Catalog

1.pdf ····· 1
2.pdf ····· 2
3.pdf ····· 3
4.pdf ····· 4
5.pdf ····· 5
6.pdf ····· 6
7.pdf ····· 7
8.pdf ····· 8
9.pdf ····· 9
10.pdf ····· 10
11.pdf ····· 11
12.pdf ····· 12
13.pdf ····· 13
14.pdf ····· 14
15.pdf ····· 15
18.pdf ····· 16
19.pdf ····· 17
20.pdf ····· 18
21.pdf ····· 19
22.pdf ····· 20
23.pdf ····· 21
24.pdf ····· 22
25.pdf ····· 23
26.pdf ····· 24
27.pdf ····· 25
28.pdf ····· 26
29.pdf ····· 27
30.pdf ····· 28
31.pdf ····· 29
32.pdf ····· 30
33.pdf ····· 31
34.pdf ····· 32
35.pdf ····· 33
36.pdf ····· 34
37.pdf ····· 35
38.pdf ····· 36
39.pdf ····· 37
40.pdf ····· 38
41.pdf ····· 39
42.pdf ····· 40
43.pdf ····· 41
44.pdf ····· 42
45.pdf ····· 43
46.pdf ····· 44
47.pdf ····· 45
48.pdf ····· 46
49.pdf ····· 47
50.pdf ····· 48
51.pdf ····· 49

52.pdf ····· 49
53.pdf ····· 51
54.pdf ····· 52
55.pdf ····· 53
56.pdf ····· 54
57.pdf ····· 55
58.pdf ····· 56
59.pdf ····· 57
60.pdf ····· 58
61.pdf ····· 59
62.pdf ····· 60
63.pdf ····· 61
64.pdf ····· 62
65.pdf ····· 63
66.pdf ····· 64
67.pdf ····· 65
68.pdf ····· 66
69.pdf ····· 67
70.pdf ····· 68
71.pdf ····· 69
72.pdf ····· 70
73.pdf ····· 71
76.pdf ····· 72
77.pdf ····· 73
78.pdf ····· 74
79.pdf ····· 75
80.pdf ····· 76
81.pdf ····· 77
82.pdf ····· 78
83.pdf ····· 79
84.pdf ····· 80
85.pdf ····· 81
86.pdf ····· 82
87.pdf ····· 83
88.pdf ····· 84
89.pdf ····· 85
90.pdf ····· 86
91.pdf ····· 87
92.pdf ····· 88
93.pdf ····· 89
94.pdf ····· 90
95.pdf ····· 91
96.pdf ····· 92

संघर्ष, सृजन एवं सांस्कृतिक बोध की वैचारिकी

ISSN 0974-6129
वर्ष 4 अंक 1
अप्रैल–जून 2011
तीस रुपये

परिमल

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

भीतरी पन्नों में

सम्पादकीय		
मूलहीनता का दौर		3
वमर्श		
आलोचना और विचारधारा	डॉ. शशांक शुक्ला	4
शोध		
महात्मा गाँधी की सत्याग्रह की अवधारणा	मनोज कुमार सिंह	7
अहिंसा : एक वैश्विक समाधान	गंगेश्वरी प्रसाद	10
तत्कालीन लोकगीतों के माध्यम से 1857 की	राजेश कुमार चतुर्वेदी व डॉ. प्रवीण कुमार तिवारी	11
गुप्तकालीन वस्त्र एवं परिधान	डॉ. सुमन तिवारी	15
उत्तरी भारत में समाज का वर्गीकरण	विमलेश कुमार पाण्डेय व मुकेश कुमार मिश्र	17
जवाहरलाल नेहरू की विश्वव्यापी मानवतावादी दृष्टि	प्रज्ञा सिंह	19
परम्परागत शिक्षक–प्रशिक्षण की समस्यायें एवं समाधान	श्रीमती रश्मि सिंह	20
दूरदर्शन द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में दूरस्थ शिक्षा	सुधाकर पाण्डेय	23
शंकराचार्य का जगत विचार	अनुराधा पाठक	24
पौराणिक हिन्दू धर्म : एक दृष्टि	डॉ. श्याम नारायण यादव	27
प्रमुख धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में मानवतावाद	सन्तोष कुमार उपाध्याय	30
स्मृतियों में राज्य का प्रजारंजन स्वरूप	प्रवीण कुमार राय	32
मनुस्मृति में वर्ण–व्यवस्था	साधना दुबे	34
अद्वैत वेदान्त में वृत्ति–महात्म्य	शशि भूषण भट्ट	37
काश्मीर शैवागम में 'स्पन्द–सिद्धान्त' का दार्शनिक...	ऋषिका वर्मा	40
अपराधीकरण को वैधता मिली	मनोज कुमार द्विवेदी	42
जनसंख्या वृद्धि : समस्या और समाधान	शशि कान्त राय	44
पर्य्यउत्पादन एवं उसका उत्सर्जन : समस्या	प्रशान्त कुमार स्तालिन	46
संवैधानिकता : मानव अधिकार क्यों और किस लिए?	मुकेश कुमार मालवीय	49
अनुसूचित जातियों की समस्याएँ एंव संवैधानिक....	राम अवतार राम	53
युवाओं के फैशन में मीडिया का प्रभाव	राधेश्याम दीक्षित	56
बौद्ध साहित्य में आर्थिक जीवन	अभिमन्यु प्रताप सिंह	58
आधुनिक युग में रामचरितमानस की प्रासंगिकता	डॉ. मनोज कुमार वशिष्ठ	60
संत कवियों की काव्य चेतना	सुयश त्रिपाठी	63
पुनर्जागरण युग और भारतेन्दु	आशीष कुमार श्रीवास्तव	66
लघुमानव की अवधारणा और नयी कविता	सुरेश चन्द्र	70
राग दरबारी : एक सामाजिक दस्तावेज	अशोक कुमार	72
नरेन्द्र शर्मा की काव्य–कृतियों में व्यक्त नारी दृष्टि	श्रवसुमी कुमारी	75
समाज में नारी का योगदान	शैलेश यादव	77
तुलनात्मक अध्ययन का स्वरूप	चन्द्रशेखर सिंह	78
के0जी0 सुब्रमन्यन....	लक्ष्मण प्रसाद	81
Global Issues and Gandhian Solution	Mamta Yadav	83
Elementary Education and National Development :	Dr. Sandeep Tiwari	85
Evaluation of Environmental Education Text....	Shivendu Prakash	86
Education as a Fundamental Right	Vishakha Shukla	90
Conservation of Environment in the light of Buddhism	Poonam Mishra	92
Feminism in the Novels of Shobha De	Madhav Prasad Tripathi	94

सम्पादकीय

मूल्यहीनता का दौर

अंधकार, हताशा, निराशा और मूल्यहीनता के, डॉ. देवराज के शब्दों में 'अवरुद्ध सृजनशीलता', के इस समय में एक ही प्रकाश दिखता है– शिक्षा रूपी ज्ञान के आलोक का। आज उसी शिक्षा और शिक्षा–जगत को हम आज के संदर्भ में देखने का प्रयास करेंगे।

शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा समाज के ज्यादा अनुभवी सदस्य सीखने की क्रिया पर सोद्देश्य नियंत्रण करते हैं।'' ''समाज के वयोवृद्ध लोगों का वह प्रयत्न जिसके द्वारा वे आगे आने पीढ़ी का जीवन अपने आदर्शों के अनुरुप ढालते हैं।'' उपर्युक्त परिभाषाओं में शिक्षा का अर्थ, मुख्यतः सांस्कृतिक विरासत के संप्रेषण को बताया गया है। जाहिर है यह सम्प्रेषण एक चयनात्मक तथा नियंत्रित क्रिया होती है। शिक्षा की भौतिक व्याख्या भी हमारे सामने मौजूद है : 'शिक्षा वह उपकरण है जो व्यक्ति को अपने परिवेश पर नियंत्रण करने के लिए तैयार करता है' किसी समय यह व्याख्या उचित रही होगी और अपने संकुचित रूप में आज भी है किन्तु परिवेश पर नियंत्रण करना मानव–जीवन का प्राथमिक उद्देश्य ही हो सकता है, अंतिम नहीं। मनोवैज्ञानिकों ने शिक्षा को बालक रूचियों से जोड़कर जरूर उसे व्यावहारिक धरातल प्रदान किया है किन्तु वह साधन ही हो सकता है, साध्य नहीं। प्रश्न यह है कि बालकों को दी जानेवाली शिक्षा का क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? ऐसी शिक्षा जो समाज के अनुकूल हो या शासक और सरकार की नीतियों के अनुकूल हो? नौकरी केंद्रित हो या मूल्य केंद्रित हो? अंतिम प्रश्न ही आज के शिक्षा शास्त्रियों के सामने मुख्य प्रश्न है। वस्तुतः शिक्षा का प्रयोजन या उद्देश्य अपने मूल रूप में नैतिक–दार्शनिक प्रश्न है।

उपनिषद् की शिक्षा थी 'अपने को जानो'। बुद्ध ने 'अप्प दीपो भवः' का दर्शन दिया। अपने को जानना समाज से निरपेक्ष नहीं था, बल्कि समाज की संभावनाशील स्थितियों में अपनी भूमिका तय करना था। अतः शिक्षा का प्रधान उद्देश्य या कर्त्तव्य होना चाहिए व्यक्ति के अन्दर समस्त चिंतन और संस्कृति की क्रियाओं को अनुस्तरित कर देना। डॉ0 देवराज ने लिखा है ''शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना जिनमें मानव–जाति की श्रेष्ठतम् प्रवृत्तियाँ, उसके सुन्दरतम सपने और महत्तम प्रेरणाएँ, सृजनात्मक जीवन–क्रिया में पुनरुन्मेष पायेंगी'' फिर भी प्रश्न है ऐसे व्यक्तित्व कैसे उत्पन्न हों?आज जबकि ज्ञान का अर्थ 'सूचना' है, आज जब व्यक्तित्वहीनता का चलन है, आज जब कर्म और व्यक्तित्व पृथक हो गये हैं तब व्यक्तित्व का प्रश्न नये सिरे से उठाया जाना चाहिए। यहाँ आज की शिक्षा–व्यवस्था की विसंगतियों पर चर्चा करना प्रासंगिक होगा। आज की शिक्षा–व्यवस्था पर सबसे बड़ा आक्षेप लगाया जाता है कि इसमें नीति–कथनों की पूर्ण उपेक्षा है। इसमें व्यक्तित्व संघटन की व्यावहारिक–कुशलता का अभाव है। उपभोग केन्द्रित लालसा के प्रति आकर्षण है। पद और धन केन्द्रित अभिरूचि निर्माण का प्रयास है। पाश्चात्य जीवन–दर्शनों का प्रभाव है। निम्न वर्ग की संवेदना गायब है। कुल मिलाकर व्यावसायिकता हावी है और मूल्य गायब है। 'साक्षी' भाव की जगह 'साक्षर–भाव है।' चलो पढ़े, कुछ कर दिखायें' नारा सुनने में अच्छा लगता है, लेकिन उसकी व्यंजना खतरनाक है। 'कुछ' अपने आप में इतना अस्पष्ट है कि उसकी मनमानी व्याख्या हो सकती है। ऐसी स्थिति में शिक्षा–व्यवस्था का आदर्श यह होना चाहिए था कि वह अध्येताओं में ज्ञान के उच्च धरातल पर जाने की कुशलता विकसित करे। जीवन–विवेक का निर्माण करे, आलोचनात्मक मानों का निर्माण करे तथा हमारी अंतः प्रस्फुटित प्रवृत्तियों को प्रस्फुटित करे। किन्तु दुर्भाग्य से शिक्षा–जगत की स्थिति इसके ठीक प्रतिकूल है।

जो युवा पीढ़ी कभी आदर्श, मूल्य, सपने की बात करती थी, आज धूर्तता–मक्कारी की बात कर रही है। आप इसे चाहें तो युवा–पीढ़ी का पतन कहिये, चाहें तो शिक्षा–जगत का, चाहें तो व्यवस्था का या चाहें तो समाज का पतन भी कह सकते हैं। बौद्धिक रूप में कहें तो सभ्यता–संस्कृति का पतन कह सकते हैं। बहुत पूर्व में इसी देश में नालन्दा–तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालयों को नष्ट करके इस देश की ज्ञान संपदा के बहाने इस देश के मूल्यों को नष्ट करने का प्रयास बख्तियार खिलज़ी जैसे लुटेरों ने किया था, लेकिन आज दुर्भाग्य यह है कि हजारों विश्वविद्यालय वाले इस देश में मूल्य–ज्ञान सिसक रहे हैं। आज ज्ञान–मूल्य का मतलब पिछड़ापन और मूर्खता है, उसी प्रकार जैसे ठण्डा मतलब कोका–कोला। तो ऐसे समय में जब संकट शिक्षा–व्यवस्था, समाज और संस्कृति पर है तब शिक्षक और छात्र उससे अप्रभावित कैसे रह सकते हैं? विडम्बनापूर्ण स्थिति यह है कि छात्रों का आदर्श अब कोई शिक्षक नहीं होता। कोई फिल्म स्टार, क्रिकेट खिलाड़ी या कोई माफिया होता है। इसे अध्यापकों की पराजय कहूँ या समाज की पराजय?आज अध्यापकीय वृत्ति में अधिकांश ऐसे लोग हैं जो किसी दूसरे फिल्ड से रिजेक्टेड हुए होते हैं। शिक्षा–जगत में ऐसे प्राध्यापकों की संख्या नगण्य है जो मूल्य–आदर्श के संरक्षण, छात्रों के चरित्र एवं व्यक्तित्व निर्माण हेतु इस क्षेत्र को चुनते हैं। एक शर्मनाक घटना और आपको बताना चाहूँगा। एक केंद्रीय विश्वविद्यालय के संकायाध्यक्ष ने एक छात्र को चरित्र प्रमाण–पत्र देने से मना किया तब उस छात्र ने पलटवार जवाब किया– 'आपको यह अधिकार नहीं है। आप के ऊपर महिला सहकर्मी से छेड़छाड़ का मुकदमा अभी चल रहा है। तो प्रश्न यह है कि जब अध्यापक ही घूसखोर, सूदखोर, बलात्कारी, मूल्यविहीन, अपराधी, कुंठित–लुंठित, दुराचारी और पाखंडी होगा तो छात्र 'मूल्य' युक्त हो, यह आशा ही व्यर्थ है। उसके बाद भी सरकार और शिक्षा–शास्त्रियों का यह रोना कि शिक्षा–जगत में मूल्यहीनता आती जा रही है, स्तर घटता जा रहा है, शिक्षकों–विद्यार्थियों का नैतिक पतन होता जा रहा है आदि, किसी घटिया बहुरूपिये नाटक जैसा लगता है। यह बात व्यवस्था के नुमाइन्दे और शिक्षाशास्त्रियों को भी याद रखनी होगी कि जब तक योग्य अध्यापकों की नियुक्ति इस देश में नहीं होगी, तब तक न समाज सुधरेगा और न राष्ट्र का भला होगा। लेकिन फिर प्रश्न खड़ा होता है कि क्या योग्य अध्यापकों का तेज भ्रष्ट और दुराचारी व्यवस्था बर्दाश्त कर पायेगी? क्या व्यवस्था का मुँह ताकने की बजाय अध्यापकों को खुद ही योग्य शिष्यों का निर्माण करके इस व्यवस्था को परिवर्तित नहीं कर देना चाहिए? ज़ाहिर है इस काम में ज़ोखिम है लेकिन बकौल मुक्तिबोध 'उठाने ही होंगे अभिव्यक्ति के खतरे, तोड़ने ही होंगे गढ़ और मठ सब।'

□□□

विमर्श

आलोचना और विचारधारा

डॉ. शशांक शुक्ला*

विचारधारा और आलोचना पर एक साथ विचार करना दिलचस्प व महत्वपूर्ण है। चूँकि दोनों मानव मन की सृजनात्मक विधाएँ हैं। इसके साथ ही आलोचना का स्वतंत्र विकास विचारधारा से जुड़कर हुआ है। भारतीय समीक्षा 'सिद्धान्त' के आधार पर विकसित हुई तो आधुनिक हिंदी आलोचना 'विचारधारा' के आधार पर। लेकिन विचारधारा व आलोचना के संबंध में सतर्क दृष्टि की आवश्यकता है, क्योंकि विचारधारा की अनिवार्यता जहाँ आलोचना की ताकत है वहीं विचारधारा से बद्धता उसकी सीमा।

मुक्तिबोध और अज्ञेय को आमने-सामने खड़ा करके, विचारधारा के नाम पर छोटा करने की दलगत कोशिश उस समय के हिंदी के शीर्ष आलोचकों ने की और अपनी सतही आलोचना का परिचय दिया, यह हम जानते हैं यानी जो हमारी विचारधारा का नहीं है, वह 'सब कुछ, के बावजूद दोयम दर्जे का और जो हमारी विचारधारा व दल का है वह 'महान्, साहित्यकार। 'कबीर, की सारी प्रगतिशीलता 'डाँट-फटकार, व ब्रह्म-विज्ञान में चली जाती है और तुलसीदास के सारे काव्यात्मक प्रतिमान 'विचारधारा, की कसौटी पर ध्वस्त हो जाते हैं। इस तरह की संकीर्ण विचारधारा केवल हिंदी आलोचना में नहीं है। पश्चिमी समीक्षा जगत में भी 'संबद्ध, और 'असंबद्ध, होने पर ही किसी लेखक का अस्तित्व या महानता सिद्ध की जाती रही है।

'विचारधारा' शब्द को लेकर अनेक भ्रांतियाँ हैं। लेकिन भ्रांतियों को देख लेना उचित होगा। कार्ल मार्क्स ने विचारधारा को 'मिथ्या' या 'झूठी चेतना' कहा है। एंगेल्स ने उसे 'अचेष्ट प्रक्रिया' बतलाया। 'जर्मन विचारधारा' पुस्तक में मार्क्स ने जर्मन भाववाद की आलोचना की है, जिस पर आध्यात्म और रहस्यवाद की गहरी पर्त चढ़ी हुई थी। मार्क्स विचार को व्यवहार से जोड़ने पर बल देता है और व्यवहार से अलग विचार को 'कोरा पंडिताऊ विवाद' कहता है। डॉ0 रवि श्रीवास्तव ने 'समाज और आलोचना' पुस्तक में लिखा हैं – ''विचारधारा उसी हद तक यथार्थ की मिथ्या प्रतीति है, जिस हद तक वह प्रकृति, जीवन और मानव–समाज के वास्तविक व्यवहारिक अनुभवों से अलग होकर स्वतंत्र रूप से अपना विकास करना चाहती है।'' तय है कि विचारधारा के प्रयोग के संबंध में भारी भ्रम या परस्पर विरोधी विचार देखने को मिलता हैं। कहीं इसे 'दृष्टिकोण की एक पद्धति' कहा गया है, कहीं 'समाज को गुमराह करने का साधन', कहीं झूठी चेतना', कहीं 'समाजवाद का वैज्ञानिक सिद्धांत'। लेनिन ने स्पष्टतया इसे दो कोटियों में विभक्त कर दिया है–बुर्जुआ विचार प्रणाली और समाजवादी विचार प्रणाली। वस्तुतः विचारधारा विचार और दृष्टिकोण की एक पद्धति है जिसके तहत लोग वास्तविकता तथा अपने पारस्परिक संबंधों को पहचानते हैं और सामाजिक समस्याओं तथा संघर्षों का मूल्यांकन करते हैं। यानी विचारधारा में समाज की गति व गुण की पहचान करने पर बल दिया जाता है। हालाँकि विचारधारा की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न भी कम नहीं उठाए गए हैं लेकिन फिर भी विचारधारा के व्यापक अर्थ–ग्रहण की आवश्यकता है।

आलोचना और विचारधारा पर विचार करते हुए प्रथम प्रश्न उठता है कि आलोचना और विचारधारा का संबंध कहाँ तक अनिवार्य है? हर युग की आलोचना कहीं–न–कहीं विशेष सामाजिक–धार्मिक– ऐतिहासिक–सांस्कृतिक संदर्भों व आधारों के बीच निर्मित होती है। बिना ऐतिहासिक जरूरत के कोई भी आलोचना या कहें कि रचना या साहित्य निर्मित नहीं हो सकता। एक विशेष ऐतिहासिक बनावट के बीच निर्मित हुए जनमानस की आशाओं–आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए आलोचना का जन्म होता है। तय है कि ऐतिहासिक जरूरत के बीच निर्मित रूप किसी–न–किसी विचारधारा की माँग करेगा। अतः आलोचना अनिवार्यतः किसी–न–किसी विचारधारा का आश्रय लेती है। कह सकते हैं कि जैसे किसी शरीर में बुद्धि न हो तो शरीर भार के समान हो जाता है, उसी प्रकार बिना विचारधारा के आलोचना निरर्थक व निर्जीव हो जाती है।

आलोचना अपने आप में उतनी स्वतंत्र नहीं जैसे रचना। रचनाकार एक विशेष दृष्टिकोण से समाज को देखता है और अपनी रचना में अपने दृष्टिकोण को विभिन्न पात्रों में विभक्त कर देता है। अतः रचनाकार के लिए विचारधारा की अनिवार्यता होते हुए भी विचारधारा उतनी अनिवार्य नहीं हो पाती क्योंकि वहाँ लेखक के विचारों का वहन सैकड़ों पात्रों व परिवेश में सूक्ष्म रूप से विभक्त हो जाता है। इसीलिए संसार के बड़े साहित्यकार चाहे यूनान के हों, योरप के हों या एशिया के–उनकी विचारधारा का प्रश्न शास्त्रीय धरातल पर ही विवेचित हुआ। तात्पर्य यह कि बड़े साहित्कारों की महानता के पीछे वैचारिक तत्व प्रभावी रूप में सामने नहीं आया है। आलोचना को दुहरे रचना–प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। प्रथम तो उसे लेखक की रचना, रचना–प्रक्रिया, उसमें निबद्ध अनुभूति व विचारधारा को समझना पड़ता है। फिर अपनी अनुभूति व विचारधारा के अनुसार वह उसके विश्लेषण, व्याख्या और मूल्यांकन की दिशा में सक्रिय

होता है। अतः रचनाकार की तरह उसे मात्र एक विचारधारा से जुटना नहीं पड़ता, बल्कि स्वयं की और रचनाकार की, यानी दो–दो विचारधाराओं से जुटकर आलोचना को रचना से और फिर समाज से जोड़ना पड़ता है।

आलोचना में विचारधारा के जुड़ाव से पूर्व व्यक्तित्व का जुड़ाव ज़्यादा महत्वपूर्ण चीज है। क्योंकि किसी के व्यक्तित्व से जुड़ने का अर्थ है हम उसके युग–परिवार, समाज–परिवेश यानी उसकी उन सारी स्थिति–परिस्थिति से जुड़ जाएँ जिसके बीच लेखकीय व्यक्तित्व निर्मित हुआ है। इसलिए प्रथम चरण व्यक्तित्व से जुड़ाव का है। डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला की आलोचना करते समय व्यक्तित्व व परिवेश से पहले अपने को जोड़ा है। भाव यह है कि इससे रचना प्रामाणिक होती है। इसके पश्चात् आलोचक लेखक की विचारधारा को उसके परिवेश से जोड़े। परिवेश से जोड़ने का अर्थ है उसकी (लेखक के) परंपरा व समाज की गति के साथ रचनागत विचारधारा को रखकर देखा जाए। उसके पश्चात् लेखकीय विचारधारा के साथ वर्तमान युग–समाज की विचारधारा का साम्य–वैषम्य निर्धारित करना, तदन्तर आलोचक द्वारा लेखकीय विचारधारा का मूल्यांकन। लेखकीय विचारधारा बुर्जुआ है या साम्यवादी है या यथार्थवादी, परंपरावादी है या प्रगतिशील, वस्तुवादी है या रूपवादी। इन सबका विश्लेषण–व्याख्या और मूल्यांकन तटस्थ दृष्टि से करना आलोचना का दायित्व है।

> स्मरण रखने की बात यह है कि भारतीय साहित्य सिद्धांत के सारे मौलिक सिद्धांत १०वीं शताब्दी तक रचे जा चुके थे। उसके पश्चात् उनकी केवल व्याख्या हुई। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन व अभिनवगुप्त के ध्वनि सिद्धांत के साथ भारतीय दर्शन व साहित्य की मौलिकता सूख जाती है (मेघ जी इसे 'गाँठ पड़ जाना, कहते हैं।) दूसरी बात जो महत्वपूर्ण है वह यह कि भारतीय साहित्य सिद्धांत दर्शन पर आधारित रहा है।

अब हम विचारधारा और आलोचना की परस्पर निर्भरता व निर्भरता के खतरे पर विचार करेंगे। यह तो तय है कि बिना विचार के आलोचना संभव नहीं है– कम–से कम उत्कृष्ट आलोचना। आलोचना के लिए विचार जरूरी है। विचार से ही आलोचना को गहराई मिलती है। कॉलरिज का सूत्रगम्य है– गहरे विचारों की कोख से ही गहरी भावनाएँ जन्मती हैं। रचना और आलोचना दोनों के केंद्र में सामाजिक जीवन है, इसलिए जीवन की माँग के मुताबिक दोनों की गति और प्रवृत्ति का निर्धारण होगा। ख़तरा तब पैदा होता है जब सचेतन रूप से आलोचना को विचारधारा का आश्रित–पिछलग्गू बना दिया जाता है या एक–दूसरे की सापेक्षिक स्वतंत्रता पर चोट की जाती है। आरोपित विचार आलोचना के प्रभाव को नष्ट कर देता हैं। इसलिए प्रामाणिक आलोचना अपने समाज व इतिहास की गति के बीच से विकसित होती है। सन् 1950 के बाद का अधिकांश साहित्य यूरोपीय विचारधारा के प्रभाव तले रचा गया, इसलिए उसमें वह ताकत न आ पाई। विचारणीय है कि पिछले 20–25 साल में हमारे साहित्यिक जगत में कोई साहित्य का आंदोलन क्यों नहीं खड़ा हो पाया?

प्रत्येक रचना में उसके रचयिता का कोई ध्येय निहित रहता है। इस संबंध में पाठ, लेखक और आलोचक के दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। आलोचक अपनी आलोचना द्वारा लेखक का एक प्रकार से पुनः संस्कार करता है पुनः संस्कार में कहीं–न–कहीं लेखक के व्यक्तित्व व विचारधारा के साथ आलोचक का व्यक्तित्व व विचारधारा भी जुड़ जाती है। लेकिन लेखकीय विचारधारा से आलोचक की विचारधारा में अंतर इतना न हो जाए कि रचना लेखक से स्वतंत्र हो जाए। विखंडनवादी आलोचना में प्रायः इसी तरह का प्रयास किया गया है। डॉ. धर्मवीर जब 'कफन' के पाठ का कुपाठ तैयार करते हुए कहते हैं कि– घीसू व माधव बुधिया को इसलिए नहीं बचाते क्योंकि बुधिया के पेट में जमींदार का बच्चा था। ज़ाहिर है, विचारधारा का यह अतिविकृत रूप है। आलोचना में विचारधारा का पूर्वाग्रह नयी बात नहीं है। मुक्तिबोध और अज्ञेय को आमने–सामने खड़ा करके, विचारधारा के नाम पर छोटा करने की दलगत कोशिश उस समय के हिंदी के शीर्ष आलोचकों ने की और अपनी सतही आलोचना का परिचय दिया, यह हम जानते हैं यानी जो हमारी विचारधारा का नहीं है, वह 'सब कुछ' के बावजूद दोयम दर्जे का और जो हमारी विचारधारा व दल का है वह 'महान्' साहित्यकार। 'कबीर' की सारी प्रगतिशीलता 'डाँट–फटकार' व ब्रह्म–चित्रण में चली जाती है और तुलसीदास के सारे काव्यात्मक प्रतिमान 'विचारधारा' की कसौटी पर ध्वस्त हो जाते हैं। इस तरह की संकीर्ण विचारधारा केवल हिंदी आलोचना में नहीं है। पश्चिमी समीक्षा जगत में भी 'संबद्ध' और 'असंबद्ध' होने पर ही किसी लेखक का अस्तित्व या महानता सिद्ध की जाती रही है। (देखें 'आलोचना के मान', शिवदान सिंह चौहान)

आलोचना केवल विचार नहीं है। आलोचना लालित्यपूर्ण बौद्धिक चेतना है। या कहें कि आलोचना जीवन और रचना की रसानुभूति कराने वाली विधा है। रामविलास शर्मा इसीलिए साहित्य (आलोचना) को पूर्णतः आइडियोलॉजिकल नहीं मानते। आलोचना में विचारधारा अनिवार्य होकर भी अपने मूल स्वरूप में भिन्न पद्धति है। जैसे मार्क्स विचारक हैं और रामविलास शर्मा आलोचक। अतः तय है कि विचारधारा और आलोचना में फ़र्क है।

अब हम रचना–रचनाकार और विचार के संबंधों पर विचार करेंगे। रचनाकार अपनी रचना में जिन विचारों व मान्यताओं का समर्थन करता है, अपनी कला में वह उनका अतिक्रमण भी करता है। एंगेल्स ने विचारक बाल्जाक और रचनाकार बाल्जाक में फ़र्क किया है। इसी तरह लेनिन ने विचारधारा के स्तर पर ईसाइयत के चरम निराशावाद में डूबी हुई टाल्स्टॉय के विचारों की आलोचना की लेकिन कलात्मक योगदान की प्रशंसा करते हुए उनके साहित्य को 'रूसी क्रांति का दर्पण' कहा। तुलसीदास में विचारधारा के स्तर पर अंतर्विरोधों की खोज हुई लेकिन उनकी रचना फिर भी महान है। आचार्य

रामचंद्र शुक्ल की विचारधारा में भी कुछ लोगों ने 'ब्राह्मणवाद' ढूँढ़ा लेकिन उनकी आलोचना बड़ी आलोचना के रूप में समादृत हुई। रामविलास शर्मा ने इसीलिए लिखा है "विचारक और कलाकार यानी विचारधारा और कला भी एक ही चीज नहीं है, दो भिन्न कोटियाँ हैं।" वस्तुतः रचना और आलोचना विचारधारा को अपनी शर्तों पर स्वीकार करती है। एंगेल्स ने लिखा था, "लेखक के विचार जितने ही अप्रकट हों, कला के लिए उतना ही अच्छा होगा.....।" अतः सिर्फ विचार किसी आलोचना को रचना बनाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

आलोचना में 'मौलिकता का अभाव' व भारतीय समीक्षा पद्धति में 'नवीन विचारधारा' के अभाव के निहित कारणों को देखना उचित होगा। शिवदान सिंह चौहान व डॉ. देवराज ने हिंदी आलोचना की सीमा पर चर्चा करते हुए किसी 'नवीन सिद्धांत' के अभाव को एक बड़ी सीमा के रूप में देखा है। शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है कि हिन्दी में आलोचक तो बड़े–बड़े हुए लेकिन मौलिक आलोचना का अभाव है। हिन्दी आलोचना की मौलिकता के अभाव का कारण कहीं यह तो नहीं है कि संस्कृत दर्शन व विचारधारा ने जिस बड़े साहित्य–सिद्धांत का निर्माण किया वह हिन्दी आलोचना में नहीं हो पाया?क्या इसलिए तो नहीं कि हम किसी नवीन दर्शन का निर्माण नहीं कर सके?हम किसी मौलिक विचारक को पैदा नहीं कर सके? हमारे बाद के विचारक और दार्शनिक विचित्र ढंग से भारतीय एवं पाश्चात्य दार्शनिकों का प्रभाव ग्रहण करते हुए उनमें समन्वय का प्रयास करते रहे या उनकी व्याख्या करते रहे या उनकी समकालीन प्रासंगिकता की खोज करते रहे। 'गीता' तथा 'रामचरित मानस' की व्याख्या–विवेचना में ही अधिकांश भारतीय मनीषा की ऊर्जा नष्ट हो गई। डॉ. नामवर सिंह– सारे मार्क्सवाद के बावजूद, तुलसी को प्रतिक्रियावादी सिद्ध करने के बावजूद (देखें– दूसरी परम्परा की खोज) पिछले 5–6 साल से 'मानस' की व्याख्या–विवेचन में लगे हुए हैं। स्मरण रखने की बात यह है कि भारतीय साहित्य सिद्धांत के सारे मौलिक सिद्धांत 10वीं शताब्दी तक रचे जा चुके थे। उसके पश्चात् उनकी केवल व्याख्या हुई। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन व अभिनवगुप्त के ध्वनि सिद्धांत के साथ भारतीय दर्शन व साहित्य की मौलिकता सूख जाती है (मेघ जी इसे 'गाँठ पड़ जाना' कहते हैं।) दूसरी बात जो महत्वपूर्ण है वह यह कि भारतीय साहित्य सिद्धांत दर्शन पर आधारित रहा है। भट्टलोल्लट– मीमांसक, शंकुक–न्यायवादी, भट्टनायक–सांख्यवादी, अभिनव–अद्वैतशैववादी तथा मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ–वेदांती। लगता है कि भारतीय समीक्षा की यह नियति रही है कि वह दर्शन पर आधारित होकर ही विशिष्टता प्राप्त कर सकती है। भारतीय समीक्षा के कुछ अन्य आचार्यों को (भामह, दंडी, वामन, रुद्रट आदि) 'देहवादी' कहा गया है जिसे मेघ जी 'राजदरबारी तथा शहरी संस्कृति' का पोषक कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि भारतीय दर्शन की समाप्ति के बाद भारतीय समीक्षा की मौलिकता समाप्त हो जाती है। आधुनिक आलोचना का विकास इसीलिए भारतीय परंपरा में न होकर पाश्चात्य परंपरा से प्रभाव ग्रहण करके हुआ।

दूसरा प्रश्न यह है कि पाश्चात्य समीक्षा में ही आलोचना सिद्धांत क्यों निर्मित हुए?प्रथमतः तो पाश्चात्य देशों में–आधुनिक युग में–कई वैज्ञानिक व दार्शनिक सिद्धांतों का निर्माण हुआ, फलतः उन्होंने सीधे वहाँ से ऊर्जा ग्रहण की। भारत में आते–आते आलोचना सिद्धांतों का निर्माण संपन्न हो चुका होता है और इसीलिए यहाँ व्याख्या–विवेचना ही ज़्यादा हुई। भारत में आधुनिक दर्शनों का प्रवेश तो हुआ, आलोचकों ने उनसे बौद्धिक ऊर्जा भी ग्रहण की (जैसे मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद, उत्तर–आधुनिकतावाद, स्त्रीवाद इत्यादि) लेकिन ये विचारधाराएँ व सिद्धांत भारतीय जातीय चेतना का अंग न बन सके। फलतः किसी नवीन साहित्यिक सिद्धांत की रचना न हो सकी। पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान के प्रभाववश आचार्यरामचंद्र शुक्ल जैसे समीक्षक ने कुछ सिद्धांतों को नवीन रूप देने की कोशिश की, लेकिन वे असफल हुए, क्योंकि भारतीय सिद्धांत अपने दर्शन व समाज की ऊर्जा से पैदा हुए थे।

हिन्दी आलोचना का सबसे बड़ा संकट यह रहा है कि हर प्रवृत्ति, रचना को पश्चिम से आई विचारधारा के संदर्भ में रखकर देखा जाता रहा है। दूसरों की दृष्टि से, चश्में से जब तक हम समाज व साहित्य को देखते रहेंगे, हमें धुंधला ही दिखाई देगा। आचार्य शुक्ल के समय में 'आध्यात्मिक चश्मों' की बहुतायत थी, आज रंग–बिरंगे विचारधारात्मक चश्मों की। जिस रंग का (विचार का) चश्मा लगाया, दुनिया व साहित्य वैसा ही दिखा। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पश्चिम से आई सभी विचार–सरणियों को आँख मूँदकर अपनाने के फ़ैशन की निंदा की थी। निष्कर्ष यह कि साहित्य जगत में विचार पर ज़्यादा भरोसा करना ख़तरे से खाली नहीं है। मुक्तिबोध होते तो इसे मूर्खता कहते।

■ ■ ■

प्रवक्ता, केंद्रीय हिन्दी संस्थान,
हैदराबाद केन्द्र व
प्रधान संपादक– 'परमिता'

महात्मा गाँधी की सत्याग्रह की अवधारणा

मनोज कुमार सिंह*

गांधीजी को "शांतिपूर्ण विरोध की राजनीति" का दार्शनिक माना जाता है क्योंकि वे सत्य एंव अहिंसा, साधन एवं साध्य की पवित्रत श्रेष्ठता, तथा व्यक्ति की नैतिक पवित्रता में विश्वास करते थे। अपने इन्हीं विश्वासों के आधार पर सामाजिक एवं राजनीतिक श्रेत्र में व्याप्त अन्याय, अत्याचार के प्रतिरोध हेतु उन्होंने एक नए मार्ग को प्रस्तुत किया जिसे सत्याग्रह कहा जाता है। वस्तुतः गांधी जी विश्व के इतिहास से पूर्णरूपेण परिचित थे। इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिंसा अथवा युद्ध किसी भी समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। हिंसा या युद्ध से समस्या कुछ देर के लिए टल तो जाती है, लेकिन कोई ऐसा समाधान नही निकला जा सकता जो पक्ष तथा विपक्ष दोनों को स्वेच्छा से स्वीकार्य हो। इसी कारण गांधी जी हिंसा के विरूद्ध संघर्ष, हिंसा की विरोधी ताकत, अहिंसा के द्वारा करने की वकालत करते हैं। उनका मत है कि अहिंसा ही हिंसा का अंत कर सकती है। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने गांधी जी के सत्याग्रह को "हिंसा विहीन युद्ध" की संज्ञा दी है।

सत्याग्रह शब्द सत्य और आग्रह इन दोनों शब्दों के संयोग से बना है। यहाँ सत्य सच्चाई का प्रतीक है जबकि आग्रह से नैतिक बल, आत्मबल प्रार्थना, आस्था आदि का बोध होता है। जिसका अर्थ है सत्य के लिए दृढ़ता पूर्वक आग्रह करना। दूसरे शब्दों में सत्याग्रह सत्य की विजय हेतु किए जाने वाले आध्यात्मिक एवं नैतिक संघर्ष का नाम है। यदि कोई व्यक्ति स्वार्थरहित होकर, निष्पक्ष रूप से विचार करने के पश्चात किसी विचार या सिद्धांत को सत्य मानता है तो कष्टों तथा कठिताइयों की परवाह किए बिना सदैव उसके अनुरूप मन, वचन, कर्म से आचरण करना सत्याग्रह है। गांधीजी ने सत्याग्रह का यही व्यापक अर्थ स्वीकार किया। संभवतः गांधी जी को सत्याग्रह करने की प्रेरणा हैनरी डेविड थ्योरो की पुस्तक 'सिविल डिसओविडिएंस से प्राप्त हुई थी तथा बाद में उन्होंने अपने व्यापक अनुभव तथा अपनी दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर सत्याग्रह के सिद्धान्त को अधिक विकसित एवं परिष्कृत किया और इसे अपने जीवन दर्शन का अंग बना लिया।

गाँधीजी के सत्याग्रह का जन्म दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद की असाधारण तथा अमानुषिक परिस्थितियों में हुआ। गाँधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में अपने प्रवास के दौरान यह पाया कि वहां यूरोपीय नस्ल के श्वेत लोग अश्वेतों विशेषकर एशिया तथा भारतीय मूल के लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार करते थे वैसा समान्यतः पशुओं के साथ भी नही किया जाता है। गांधी जी ने इस अन्याय के विरूद्ध संघर्ष करने का बीड़ा उठा लिया। प्रारम्भ में अपने इस आन्दोलन को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' ही कहा करते थे, किन्तु बाद में उन्होने अनुभव किया कि उनके आंदोलन का यह नाम उचित नही है। पाश्चात्य देशों में निष्क्रिय प्रतिरोध को असहाय और दुर्बल व्यक्तियों का हथियार माना जाता था। परन्तु यह मान्यता गांधी जी के सत्य और अहिंसा पर आधारित आध्यात्मिक आंदोलन के विरूद्ध की। इसी कारण गांधी जी ने अपने आंदोलन को 'सत्याग्रह' की संज्ञा दी और उसे 'निष्क्रिय प्रतिरोध' से पृथक किया। गांधी जी के विचार में सत्याग्रह कायर तथा दुर्बल व्यक्ति का अस्त्र नही है बल्कि नैतिक रूप से सक्षम, सक्रिय व सतर्क लोगों के द्वारा किया जाने वाला संघर्ष है। गांधी जी का स्पष्ट कहना है कि, "हिंसा करने वाले व्यक्ति से यह आशा की जा सकती है कि वह कभी अहिंसा के अनुसार आचरण करना सीख जायेगा परन्तु कायर व्यक्ति से ऐसी आशा नहीं की जा सकती"[1]। नैतिक दृष्टि से साहसी सत्य पर अटल रहते हुए वह सदा दृढ़तापूर्वक यही कहता है– "मैं संसार में किसी से नही डरूंगा। मैं केवल ईश्वर से डरूंगा। मैं किसी के प्रति कोई दुर्भावना नही रखूंगा। मैं सत्य द्वारा असत्य को पराजित करूंगा। असत्य को सत्य द्वारा, घृणा को प्रेम द्वारा तथा अन्याय को न्याय द्वारा पराजित करके मैं सभी व्यक्तियों के प्रति सद्भाव रखूंगा और स्वयं सहर्ष अधिकतम कष्ट सहन करूंगा।"[2] गांधीजी ने हिन्दू धर्म ग्रंथों में वर्णित आत्मपीड़न आत्म–त्याग अथवा आत्म बलिदान को सत्याग्रह की आत्मा का नाम दिया है। इस प्रकार सत्याग्रह बहादुरों का वीरों का संघर्ष है, न कि कायरों का।

गांधी जी का यह अहिंसात्मक सत्याग्रह उनके आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित है, इनमें प्रथम है ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास तथा उसके प्रति अखण्ड श्रद्धा। इसका आधार स्वयं स्पष्ट करते हुए कहते है कि, "सत्याग्रह के लिए मनुष्य का अहिंसा में दृढ़ विश्वास होना चाहिए। ईश्वर में अखण्ड श्रद्धा के बिना यह असंभव है। अहिंसा के अनुरूप आचरण करने वाला मनुष्य ईश्वर की शक्ति और कृपा के बिना कुछ नही कर सकता। इसके बिना उसमें क्रोध भय, तथा प्रतिशोध से मुक्त रहते हुए अपने आपको बलिदान कर देने का साहस उत्पन्न नही हो सकता"[3] सर्वशक्तिमान ईश्वर में अखण्ड श्रद्धा रखकर ही सत्याग्रही में निर्भीकता आ सकती है जो सत्याग्रह की सफलता के लिए आवश्यक है। इस प्रकार महात्मा गांधी के मतानुसार ईश्वर में अटूट श्रद्धा के बिना सत्याग्रह के सफल होने की कल्पना भी नही की जा सकती । किन्तु गांधी की सत्याग्रह संबंधी इस मान्यता को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। सत्याग्रह के लिए मानव में जिन सद्गुणों की आवश्यकता है उनको विकसित करने के लिए ईश्वर की सत्ता में विश्वास आवश्यक नही है क्योंकि एक निरीश्वरवादी भी दृढ़तापूर्वक सत्य एवं अहिंसा के पथ पर गमन करते हुए सत्याग्रह के समरूप आचरण कर सकता है। परन्तु धर्मपरायण गांधी जी सत्याग्रह के लिए ईश्वर में अखण्ड श्रद्धा अनिवार्य मानते हैं। यहाँ एक उल्लेखनीय तथ्य है कि गांधी जी की उक्त मान्यता को व्यापक आधार भी मिल सकता है क्योंकि विश्व में सबसे बड़ा वर्ग धर्मपरायण व्यक्तियों का है।

गांधीजी के सत्याग्रह की दूसरी मूल मान्यता मानव की अच्छाई में विश्वास। इसी आधार पर उन्होने अपने संघर्ष का लक्ष्य सदा बुराई को बनाया न कि बुरे अथवा बुराई करने वाले को। गांधी जी टॉलस्टॉय के इस कथन से सहमत थे कि यदि घृणा करनी ही हो तो पाप से करनी चाहिए, न कि पापी से। उनका पूर्ण विश्वास था कि घोर अत्याचार एंव अन्याय करने वाले व्यक्ति में भी सद्वृत्तियां विधमान रहती है जिन्हें सत्याग्रही स्वयं कष्ट सहन करके जागृत कर सकता है और एक सद्भावी मानव बनने में सहयोगी हो सकता है। गांधी जी ने न केवल ऐसा उपदेश दिया अपितु जीवन पर्यन्त आचरण करते रहे। दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष के दौरान कई व्यक्तियों ने उनकी हत्या करने

की कोशिश की किन्तु गांधी जी के मन में उनके प्रति कटुता उत्पन्न नही हुई अपितु उन व्यक्तियों को क्षमा करके उन्हें अपना मित्र तथा अनुयायी बना लिया। इसका कारण उनका दृढ़ विश्वास था कि कोई भी व्यक्ति स्वभावतः बुरा नहीं होता क्योंकि ईश्वरीय अंश आत्मा सभी में विद्यमान है। अपने इसी विश्वास के आधार पर वे दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत में सत्याग्रह का संचालन करते रहें। किन्तु मानव स्वभाव के संदर्भ में गांधी जी की यह मान्यता सैद्धान्तिक उच्चादर्श अधिक है, व्यावहारिक कम। इसमें जीवन के कठोर यथार्थ की उपेक्षा की गई हैं। विश्व इतिहास में ऐसे तानाशाहों तथा अत्याचारियों को सरलता से खोजा जा सकता है जिनके मन में निर्दोष व्यक्तियों के प्रति क्रोध, घृणा प्रतिशोध आदि दुर्भावनाओं के अतिरिक्त कुछ नही था। चंगेज खाँ, हलाकू, हिटलर, मुसोलनी, इदी अमीन आदि तानाशाहों के नाम का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। विश्व का इतिहास इस दुखद तथ्य को प्रमाणित करता है कि ऐसे तानाशाहों की निर्दयता की कोई सीमा नही है जिनके वर्णन मात्र से मनुष्य का हृदय कांप उठता हैं। वस्तुतः ऐसे अत्याचारियों के विरूद्ध सत्याग्रह कितना सफल होगा यह कहना कठिन है।

इस अहिंसात्मक सत्याग्रह की तीसरी आवश्यक आधारभूत मान्यता है सत्य और अहिंसा की शक्ति में पूर्ण विश्वास। जब वह अन्याय तथा अत्याचार का अन्त करने के लिए हिंसा का मार्ग छोड़कर अहिंसात्मक सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण करता है तो उसे पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि उसका सत्याग्रह अवश्य सफल होगा। गांधी जी सत्याग्रह में अहिंसा की सफलता को पूर्णतः निश्चित मानते है इस संबंध में कहते है कि, " मै इस बात को स्वतः सिद्ध सत्य मानता हूँ कि सच्ची अहिंसा विरोधी को प्रभावित करने में कभी असफल नही हो सकती। यदि वह असफल होती है तो वह अपूर्ण है"[4]। जब गांधी जी के अनुयायी सत्याग्रह करते समय अहिंसा के मार्ग से विरत होते तो इसके लिए अपने आप को दोषी मानकर न केवल उपवास करते अपितु सत्याग्रह को भी स्थगित कर देना आवश्यक समझते थे। उदाहरणार्थ 1922 के चौरी–चौरा घटना का यहाँ उल्लेख किया जा सकता हैं वे प्रत्येक सत्याग्रही को यही कहा करते थे कि, " सत्य और अहिंसा उनके जीवन के अंग बन जाने चाहिए अर्थात उसे अपने सामाजिक राजनीतिक जीवन में ही नही, अपितु अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी सदा इन्ही के अनुसार आचरण करना चाहिए।"[5] इनके अतिरिक्त गांधी जी सत्याग्रही की आत्मशुद्धि को भी बहुत आवश्यक मानते हैं। सत्याग्रह से पूर्व स्वयं सत्याग्रही को सभी प्रकार की बुराइयों से मुक्त होना चाहिए ताकि वह सत्याग्रह के कठिन मार्ग पर निरन्तर अग्रसर हो और किसी भी नैतिक रूप से वांछनीय उद्देश्य की प्राप्ति में सक्षम हो सके।

सत्याग्रह के उद्देश्य के संदर्भ में गांधी जी का मंतव्य है कि इसका प्रयोग स्वार्थपूर्ण न होकर, समाज के कल्याण के लिए हो। अपने व्यक्तिगत हित के लिए किया गया अहिंसात्मक प्रतिरोध वास्तव में सत्याग्रह नहीं है, क्योंकि वह सत्याग्रह के मूल उद्देश्य सामाजिक कल्याण की उपेक्षा करता है। सामाजिक हित सम्बन्धी अपने इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सत्याग्रही सहर्ष सभी प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक कष्ट सहन करता है। इसी कारण सहर्ष कष्ट करने की क्षमता को गांधी जी सत्याग्रही का सर्वाधिक प्रभावशाली हथियार मानते है और उसे विशेष महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि "कुछ भी मेरे इस विश्वास से मुझे विचलित नही कर सकता कि यदि लक्ष्य शुभ हो तो उसके लिए कष्ट सहन करना जितना उसकी प्राप्ति में सहायक होता है उतना अन्य कोई उपाय नही हो सकता।"[6] सत्याग्रही का यही आत्मत्याग उसके विरोधी में विद्यमान मानवता की भावना को जागृत करके उसे इतना अधिक प्रभावित कर देता है कि वह स्वेच्छया उस बुराई का अन्त करने के लिए तैयार हो जाता है जिसे सत्याग्रही समाप्त करना चाहता है। परन्तु गांधीजी का यहां स्पष्ट कहना है कि सत्याग्रही को अपने दुःख का प्रदर्शन किसी भी स्थिति में नही करना है ।गांधी जी का मत है कि, "सत्याग्रही का उद्देश्य स्वयं दुःख सहन करते हुए अपने स्नेह सौहार्द तथा आत्मत्याग द्वारा विरोधी का हृदय परिवर्तन करना ही होता है, अपने कष्टों का प्रदर्शन करना नही"[7] इसके प्रभाव में विरोधी का पाशविक बल प्रभावहीन होने लगता है और वह अन्याय और हिंसा का मार्ग छोड़कर सत्याग्राही के दृष्टिकोण को स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार विरोधी सत्याग्रही का सहयोगी हो जाता है।

अन्यायी या अत्याचारी को उचित मार्ग पर लाने हेतु स्वेच्छा कष्ट सहन करने, उपवास करने के अतिरिक्त सत्याग्रह के कुछ अन्य रूप भी गांधी जी ने स्वीकार किया है जिन्हे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं। प्रतिरोधात्मक रूप एवं सकारात्मक रूप। प्रतिरोधात्मक रूप के अन्तर्गत अहसयोग, सविनय अवज्ञा, धरना, सामाजिक बहिष्कार हड़ताल आदि। जो अन्याय के विरूद्ध अहिंसक संघर्ष हैं। सकारात्मक दृष्टि से यह जन कल्याण की दिशा में रचनात्मक कार्यक्रम का एक मार्ग है।

गांधी जी ने इस रचनात्मक कार्यक्रम को जनसाधारण की भौतिक तथा नैतिक उन्नति के लिए प्रतिरोधात्मक पक्ष की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व दिया है। वे प्रायः कहा करते थे कि भारत की स्वतंत्रता अपने आप में साध्य न होकर एक साधन मात्र है जिसके फलस्वरूप भारतवासियों का सर्वांगीण विकास हो सकता है। इसी कारण वे विदेशी शासन के विरूद्ध अहिंसात्मक संघर्ष के साथ–साथ जनमानस की प्रगति के लिए सामाजिक तथा आर्थिक सुधार को भी सत्याग्रह का अनन्य भाग स्वीकार करते थे। उनके ये रचनात्मक कार्यक्रम 18 सूत्रों में विभाजित हैं जिनमें साम्प्रदायिक एकता, खादी, नशाबंदी, ग्राम उद्योग, अस्पृश्यता निवारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गांधी जी को विश्वास था कि इन व्यापक रचनात्मक कार्यक्रमों से जनमानस की सार्वभौमिक प्रगति हो सकती है। इसी कारण अपने सत्याग्रह के अन्तर्गत इस रचनात्मक कार्यक्रम को सर्वोच्च स्थान दिया। रचनात्मक कार्यक्रम के महत्व के संदर्भ में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि, "रचनात्मक कार्यक्रम के समर्थन के बिना सविनय अवज्ञा एक अपराध और शक्ति का अपव्यय है। जो रचनात्मक कार्यक्रम में विश्वास नही करता उसके मन में करोड़ों भूखे लोगों के लिए कोई सहानुभूति नहीं है। जिसके मन में सहानुभूमि का अभाव है वह अहिंसात्मक संघर्ष नही कर सकता।"[8] इस रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा सभी सामाजिक बुराईयों का निराकरण करने के लिए भी वे सत्य अहिंसा के मार्ग को ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि यही मार्ग सत्याग्रह के अनुरूप है। गांधी जी का यह रचनात्मक कार्यक्रम भारतीय जनमानस की सार्वभौम प्रगति के लिए पर्याप्त सीमा तक मार्ग प्रशस्त कर सकता है, अतः समाज सुधार के क्षेत्र में उनका बहुत प्रशंसनीय योगदान है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि वर्तमान युग में सत्याग्रह की सफलता के संदर्भ में गांधी जी का उपर्युक्त आशावाद व्यावहारिक जीवन की कठोर वास्तविकता के अनुरूप है? मनुष्य की असहिष्णुता एवं स्वार्थपरायणता को ध्यान में रखते हुए

सत्याग्रह की सफलता संदिग्ध ही प्रतीत होती है। कुछ महान आदर्शवादी व्यक्तियों को अपवाद में रखा जाए तो सामान्य व्यक्ति स्वार्थसिद्धि को ध्यान में ही रखकर कार्य करते है। वे किसी महान लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वेच्छतया तथा संघर्ष कष्ट सहन करने के लिए उद्यत नहीं होते। ऐसी स्थिति में जन सामान्य से सत्याग्रह जैसे कठिन मार्ग का अनुगमन करने की आशा करना व्यर्थ है। गांधी जी ने लगभग चार दशकों तक भारतवासियों को सत्याग्रह की शिक्षा दी और आजीवन इसकी सफलता के लिए प्रयास भी करते रहे किंतु न तो हमने सत्याग्रह का अनुसरण करना सीखा और न ही हमारे समाज में सत्याग्रह के लिए कोई स्थान है। यद्यपि यह सत्य है कि कुछ स्वार्थी लोगों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए इसका दुरूपयोग किया। इसी आधार पर सत्याग्रह की व्यावहारिकता एवं उपादेयता संदिग्ध प्रतीत होने लगी है।

किंतु आज की वैश्विक समस्याओं के निराकरण हेतु सत्याग्रह एक महान आदर्श है जिसके अनुसार यथासंभव आचरण करना निश्चय ही मनुष्य के लिए श्रेयस्कर होगा। शांति एवं अहिंसा के मार्ग से ही वास्तव में नए भारत अथवा एक प्रगतिशील विश्व का निर्माण कर सकते हैं। गांधी जी ने ठीक ही कहा है कि, "आध्यात्मिक शक्ति की अग्नि के फलस्वरूप कठोरतम हृदय भी द्रवित हो जाता है। नीरो जैसा अत्याचारी व्यक्ति भी प्रेम के परिणामस्वरूप मेमने के समान निरीह हो जाता है।"[9] गांधी जी का गुणगान करते हुए महाकवि दिनकर ने ठीक कहा है कि,

लो गांधी की शरण, बदल डालो मिलकर संसार
अथवा कल्कि के हाथों, मिटने को रहो तैयार।

सन्दर्भ–

1. हरिजन, 21 अक्टूबर, 1939
2. Satyagrah, its Technique and History, R. Divakar, Page 74
3. हरिजन, 18 जून 1938
4. वही, 6 मई, 1939 पृ0 112
5. वही, 21 जुलाई, 1940
6. यंग इंडिया, 2 पृ0 834
7. The Nations voice, M.K. Gandhi and Mahadev Desai page 235
8. हरिजन, 12 अप्रैल, 1942, पृ0 112
9. Speech and writings of Mahatama Gandhi, Editor G.A. Nateson, page 393
10. महात्मा गांधी का नैतिक दर्शन, डा0 वेद प्रकाश वर्मा

*शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

☞ शोधार्थियों से निवेदन है कि शोध-आलेख अधिकतम् 2000 शब्दों का ही भेजें, जो कि हिन्दी फान्ट Kruti Dev- 010 अथवा अंग्रेजी फान्ट Times New Roman में टाइप करें।

☞ शोध-आलेख की प्रिंट कापी तथा सी.डी. दोनों रूप के साथ अपना फोटोग्राफ भी अवश्य भेजें।

☞ शोध-आलेख प्रकाशन हेतु पत्रिका की आजीवन सदस्यता आवश्यक है।

अहिंसा : एक वैश्विक समाधान

गंगेश्वरी प्रसाद*

डॉ0 कर्ण सिंह लिखते हैं– ''वातावरण अपशकुन से पीड़ित है और युद्ध के काले बादल क्षितिज पर दिखाई दे रहे हैं। फिर भी हममें से जो लोग अन्तःकरण के मार्ग पर चलते हैं उन्हें चतुर्दिक अन्धकार में भी आस्था बनाये रखना चाहिये। हजारों वर्ष पहले उपनिषद् के एक महान ऋषि ने आनन्द – विह्वल होकर घोषणा की थी – अन्धकार से परे दूसरे तट पर मुझे देदीप्यमान महान विभूति के दर्शन हुए हैं।''1 विश्व आज उस चौराहे पर खड़ा है जहाँ से हिंसा, युद्ध, पूंजीवादी साम्राज्यवाद, वैश्विक आतंकवाद, वर्चस्ववाद तथा तथाकथित बाजारवाद की सड़कें एक दूसरे को समकोण पर काट रही हैं। चारों ओर अविश्वास और भय का वातावरण छाया हुआ है। स्वयं को विश्व का दादा समझने वाले देश मारक हथियारों (अत्याधुनिक परमाणु बम एवं मिसाइलें) का जखीरा बढ़ाने में गे हुए हैं एवं अन्य राष्ट्रों को ऐसा करने से डपट रहे हैं। अन्य राष्ट्र दरिद्रनारायण की रोटी की व्यवस्था न करके चोरी छिपे ही सही परमाणु बम बना, बनवा रहे हैं। कुछ तो इस तकनीक को बेंच भी रहे हैं अर्थात् ईसा गाँधी, गौतम एवं मुहम्मद की दुनिया में हिंसा का बाजारीकरण हो रहा है। मानवता वैश्विक आतंकवाद की चपेट में है। पूँजीवाद वर्चस्ववाद के रूप में साम्राज्यवाद ने स्वयं को समय के साथ बदल लिया है। प्रकृति उदास हो रही है क्योंकि उसकी वनस्पतियाँ, वृक्ष; जल एवं ग्लेशियर मानव की बर्बरतापूर्ण नीतियों से संकट में है। मूल्यों का क्षरण हो रहा है। मर्यादा लुप्त हो रही है– ऐसे में उपनिषद् के उस मान ऋषि की आशा, विश्वास से भरी उपर्युक्त घोषणा पुनः प्रासंगिक हो गयी, जिसका जिक्र ऊपर किया गया है।

भारत जो कि दुनिया को शांति का संदेश देता आया है, आज स्वयं अशान्ति एवं आतंकवाद की चपेट में है। इसके पड़ोसी भी हिंसा में जल रहे हैं – ऐसी स्थिति में प्राचीन भारतीय मूल्य पुनः प्रासंगिक हो उठे हैं। गाँधी की विचारणा एक बार फिर अपनी सार्थकता सिद्ध करने को लालायित हो रही है। यह ध्रुव सत्य है कि हिंसा के प्रत्युत्तर में हिंसा के होने से हिंसा का क्षेत्र व्यापक हो उठता है– आज वही स्थिति देखने में आ रही है। दूसरों को अहिंसा का संदेश देने वाले राष्ट्र अपने वर्चस्व की वृद्धि के लिए हिंसक हो रहे हैं और ऐसे में मारे जा रहे है निर्दोष नागरिक तथा वे कर्तव्यपरायण सैनिक जिनके ऊपर परिवार का बोझ है।

गाँधी ने जिस अहिंसा का विचार व्यक्त किया है वह प्रेम की साधिका है एवं सामाजिक सद्भाव की विस्तारिका है। साध्य की साधना है! सत्य की वेदना है!! एवं सत्याग्रही की अस्मिता है!!! अहिंसा सर्वोदयी समाज का विकास है। अहिंसा के बिना किसी भी सुन्दर समाज की परिकल्पना व्यर्थ है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बिना अहिंसा के न व्यक्ति और न ही समाज की किसी भी तरह की प्रगति हो सकती है। आध्यात्मिक व्यक्ति तो बिना अहिंसा के एक कदम भी आगे नहीं चल सकता। हमारे मनीषियों ने इसके महत्व को समझा और इसको व्यष्टि एवं समष्टि के लिये आवश्यक बताया। बुद्ध और महावीर ने इसे अपने जीवन दर्शन का नियामक तत्व बनाया। योगदर्शन ने इसे साधक की मनोवृत्ति के संतुलन के लिये अपरिहार्य माना। यहाँ पर गाँधी ने अहिंसा का उतने व्यापक स्तर पर प्रयोग किया जितना कि अभी तक देखने को नहीं मिला। टी. जी. कलघाटगी लिखते हैं –''अहिंसा को यह गाँधी की देन है कि उन्होंने इसे धार्मिक और नैतिक क्षेत्रों से ऊपर उठाकर राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में उपयोग करके दिखलाया।''1 अहिंसा का यह भारतीय मूल्य प्राचीनतम है परन्तु वास्तव में गाँधी ने इसे अपनाकर, इसका इतने वृहद् स्तर पर प्रयोग करके एक अभूतपूर्व कार्य कर दिया। कहा जा सकता है कि उन्होंने अहिंसा को उपकृत किया एवं उसके आगे के विकास के लिए पूरे विश्व में मार्ग खोल दिया और अब उत्तरदायित्व विश्व के उन तमाम व्यक्तियों का है– जो स्वयं को सत्य का प्रेमी समझते हैं– कि अहिंसा के माध्यम से एक वैश्विक समरसता स्थापित करें।

आज समस्त संसार में स्थिति बड़ी ही भयावह है। उसके समक्ष एक और हिंसा का धधकता ज्वालामुखी है, जिससे सारी मानवता पलभर में ध्वस्त हो सकती है तो दूसरी ओर गाँधी जी का अहिंसा का ऐसा अमृत कुण्ड है जिसमें अवगाहन कर मानव सदा के लिए अखण्ड आनन्द और शाश्वत शान्ति का अनुभव कर सकता है। आज का मानव हिंसा को नहीं अपितु अहिंसा के अमृत को पीने का इच्छुक है और हर पल शान्ति का इच्छुक है। आवश्यकता इस बात की है कि विश्व इस ओर गहराई से विचार करे एवं इनका प्रयोग करे।

सन्दर्भ–

1. डॉ0 कर्ण सिंह–हिन्दू दर्शन एक समकालीन दृष्टि, पृ0–136
2. जी. टी. कलघाटी, जर्लन आफ कर्नाटक यूनिवर्सिटी, पृ0 17

*शोधार्थी, दर्शन शास्त्र
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन,
मुक्त विश्वविद्यालय

तत्कालीन लोकगीतों के माध्यम से 1857 की क्रान्ति का पुनरावलोकन

राजेश कुमार चतुर्वेदी* व
डॉ. प्रवीण कुमार तिवारी**

इतिहास सिर्फ समाज में उच्च पदासीन व्यक्तियों द्वारा वर्णित घटनाओं की विवरणिका मात्र ही नहीं है वरन् समाज के आमजनों के हृदयोद्गारों, भावों व तत्कालीन परिस्थिति के बारे में उनके चिन्तन के अध्ययन का भी शास्त्र है। इतिहास लेखन के दौर में यह देखा गया है कि सदा से आमजनों की भावनाओं को महत्वहीन मानकर तिरस्कृत किया गया है, जिसके कारण इतिहास अपने सत्यस्वरूप से सदा वंचित रहा है। यदि इतिहास को उसके वास्तविक रूप में देखना है तो तत्कालीन परिस्थितियों में जनभावनाओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। क्योंकि बहुत सारी महत्वपूर्ण बातों पर प्रशासनिक इतिहासकारों तथा उच्च पदस्थ व्यक्तियों का ध्यान नहीं जाता है परन्तु जनभावनाओं के माध्यम से वे बातें बड़ी सूक्ष्मता से उभर कर सामने आती हैं पूर्व के समय में तत्कालीन घटनाओं के प्रति प्रतिक्रिया के स्वरूप में जनभावनाएँ लोकगीतों, नौटंकी, नाटकों, कहावतों,मुहावरों व मौखिक परंपरा के माध्यमों द्वारा बहुतायत रूप में व्यक्त की जाती रही है। इन महत्वपूर्ण माध्यमों में भी लोकगीत अत्यंत ही सशक्त माध्यम के रूप में रहा हैं इस प्रकार यदि तत्कालीन लोकगीतों के माध्यम से इतिहास का पुनरावलोकन किया जाए तो उसके बहुत सारे भिन्न आयाम उभर कर सामने आएगें।

इस प्रकार 1857 की प्रथम भारतीय राष्ट्रीय क्रान्ति के राष्ट्रीय स्वरूप को समझने हेतु भी उसका तत्कालीन लोकगीत के माध्यम से पुनरावलोकन आवश्यक है। उस समय के लोकगीतों के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार आम जनता अंग्रेजी शासन से त्रस्त व क्षुब्ध थी तथा अंग्रेजी शासन के प्रतीक कोर्ट–कचहरी के बारे में आम लोगों की क्या धारणा थी। इन लोकगीतों के माध्यम से देश के शोषण को चित्रित किया गया है । क्रान्ति की परिस्थिति में किस प्रकार भारतीयों ने अंग्रेजों से युद्ध किया तथा किन–किन स्थानों पर स्वतंत्राता का ध्वज फहरायाय साथ ही युद्ध हेतु कितने कम संसाधन उनके पास थे इन सभी बातोंका बहुत ही सुन्दर चित्रण इन लोकगीतों के माध्यम से किया गया है। प्रस्तुत प्रपत्र में विशेषकर भोजपुरी भाषी क्षेत्र के कुछ तत्कालीन लोकगीतों के माध्यम से 1857 की क्रान्ति के समय की परिस्थितियों को एक नवीन ढंग से देखने का प्रयास किया गया है।

1857 के समय ब्रिटिश वैधानिक व्यवस्था कितनी पेचीदी थी और किस प्रकार न्याय के बदले लोगों को प्रताड़ना व झूठे कागजों का पुलिंदा मिलता था इस बात का अत्यंत ही सजीव चित्रण संत सुखदेव जी द्वारा भोजपुरी में रचित निम्न लोकगीत के माध्यम से किया गया है–

समुझि परी जब जईब कचहरिया
खाईल, पियल, लेल देल कागज बाक़ी सब निकसी
धरमराज जब लेखा लीहें, लोहा के सोटवा क मार परी,
आगे–पीछे चोभदार ढाई मन मुगदर, जम के फास परी,
अगिन खम्भ में बाँध के रखिहें, हाजिरी जमीनी कोइ ना करी।।1

(जब तुम एक बार कचहरी जाओगे तब समझ में आयेगा। तुमने जो कुछ भी खाया पिया है निकल जायेगा। बचेगा केवल बेकार कागज। धर्मराज (जज) जब लेखा–जोखा लेगें, तो लोहे के राड से कस के मार पड़ेगी। कचहरी के जंजाल (यम की फाँस) से मुक्ति नहीं मिलेगी, तुम्हें छुड़ाने कोई नहीं आयेगा और तुम्हें ऐसा महसूस होगा जैसे तुम्हें आग के खम्भे से बाँध कर रखा गया है।)

जहाँ एक सामान्य व्यक्ति के लिए पारम्परिक रूप से वचन का काफी महत्व था (प्राण जाई पर बचन न जाई), वहीं ब्रिटिश व्यवस्था केवल लिखित व झूठे प्रपत्रों पर आधारित थी। इस पद्य में सामान्य व्यक्ति का शोषण करने वाली व्यवस्था को किस प्रकार अवैधानिक ठहराया गया है, यह द्रष्टव्य है। यहाँ तक की एक मगधी कहावत हीं चल पड़ी– 'कागज का राज होना'। एक भोजपुरी लोकगीत निम्न प्रकार से इस व्यवस्था पर दृष्टिपात डालती है और कहती है कि कोर्ट केस लड़ना और बेटी की शादी करना बराबर है –

चीक, बहेली, सूम धन औ बेटी के बाढ़,
एहू से धन ना घटे त कर बड़न से रार।।2

व्यापार व वाणिज्य के नये नियमों का प्रभाव व विशेषकर अफीम की खेती का प्रभाव किस प्रकार किसानों पर पड़ा। उसका अत्यंत ही मार्मिक चित्रण एक अंधी व गर्भवती गाय के माध्यम से किया गया है जिसके ब्याने के पहले ही उसके दूध का सौदा कर दिया जाता है। निम्न पद्य में यह भाव द्रष्टव्य है–

"पहिले दही जमाय के पीछे दुहनी गाय,
बछवा ओकर पेट में, कि दुवारे लयनु बिकाय,
पेट में बच्चा, आन्हर गाय,
जेकर माखन बंगला जाय।।3

इस पद्य से यह भाव स्पष्ट होता है कि अंग्रेज, पहले अफीम का सौदा करते थे उसके बाद उस सौदे के अनुरूप खेती करने के लिए बाध्य करते थे । 'पहिले दही जमाई के पीछे दुहली गाय' । अफीम का बीज भले ही न छींटा गया हो , भले ही उसका पौधा नही बढ़ा हो, उसके सम्भावित उत्पाद पहले से ही बिकने शुरू हो जाते थे । अफीम जैसे जहर को लाचार धरती (आन्हर गाय) पर जबरदस्ती उगाया जाता था और उसके उत्पाद अंग्रेजों के बंगलों पर जाते थे । 1857 के क्रान्ति के दौरान ब्रिटिश सरकार के कृत्यों से स्पष्ट है कि बिटिश सैनिक गाजीपुर में विप्लव के दौरान केवल अफीम फैक्ट्री की ही सुरक्षा कर रहे थे।

अंग्रेजी शासन काल में सिर्फ कृषि की ही हालत खस्ता नहीं थी वरन व्यापार के अधिकांश देशी केन्द्रों की जहाँ देशी तथा अफगानिस्तान, ईरान आदि देशों के उत्पादों की भरमार लगी रहती थी। उन्ही सारे केन्द्रों की स्थिति अत्यंत ही दयनीय हो गयी थी। अवधी कवि 'अमीर' मीनाई के पद्यों से इस स्थिति का स्पष्ट रूप से बोध होता है । कैसरबाग जहाँ का मेला कभी अत्यंत ही प्रसिद्ध था उसकी दुर्दशा को व्यक्त करते हुए कवि कहते हैं कि–

"अमीर अफसुर्दा होकर गुँचा–ए–दिल सूख जाता है।
वो मेले हम को कैसर बाग के जब याद आते हैं।।"4

1857 के समय की प्रचलित कुछ लोकोक्तियों से भी तत्कालीन परिस्थितियों में सामाजिक व्यवस्था को समझा जा सकता हैं जैसे 'जुलाहा, धुनिया समझे हो क्या अर्थात् जुलाहा और धुनिया जाति अत्यंत ही कमजोर व निम्न स्थिति में जी रही थी । 'बनिया रीझे त हँस दे' अर्थात बनिया लोगो की छवि अत्यंत कृपण के रूप में थी । 'शहर सिखाया कोतवाली' अर्थात् स्थिति यह कि शहर में रहने मात्र से ही पुलिस थाना कचहरी आदि का झंझट कभी न कभी पड़ ही जाता था आदि।

आम जनता भी यह बात अच्छी तरह से समझती थी कि अंग्रेजों ने धोखे से इस देश पर कब्जा किया था तथा अंग्रेजों का मकसद इस देश को लूटना है अंग्रेज यहाँ किस प्रकार अत्याचार फैला रहे हैं तथा बूढ़े कुँअर सिंह किस प्रकार इस अत्याचार से पीड़ित है। इस भाव को अत्यंत ही मार्मिक ढंग से निम्न लोकगीतों में प्रस्तुत किया गया है–

"कैलाश देश पर जुल्म जोर फिरंगिया,
जुलुम कहानी सुन तड़पे कुंवर सिंह,
बनके लुटेरा उतरल फौज फिरंगिया,
सहर गाँव लुटि फूक दिहलिस फिरंगिया,
सुन–सुन कुंवर के हिरदय लगल अगिया।।5

अर्थात फिरंगियों ने इस देश पर जबरदस्ती कब्जा कर लिया है और जुल्म ढा रहे हैं इस जुल्म की कहानी को सुनकर कुँअर सिंह तड़प उठते हैं । ये सारे फिरंगी लुटेरों की फौज के रूप में इस देश में आए है। इस सबों ने शहरों और गाँवों को लूटा ही नहीं है वरन् उसे जला कर राख कर दिया है । सावरकर ने अपनी पुस्तक 'दि इंडियन वार आफ इंडिपेन्डेन्स :1857" में इस बात की चर्चा की है कि किस प्रकार अंग्रेज गाँवों को जलाते थे तथा जलते गाँवों से भागने वाले लोगों को उसी अग्नि में फेंक देते थे6 और इस भीषण अत्याचार के बारे में सुन–सुन कर कुँवर सिंह के हृदय में विद्रोह रूपी आग की ज्वाला भड़क रही है।

इन लोकगीतों में यह भाव भी प्रदर्शित किया गया है कि अंग्रेज किस प्रकार तत्कालीन राजनैतिक प्रभुसत्ताओं को बर्बाद कर शक्तिहीन, गुलाम व कंगाल बनाया और क्यों कुँवर सिंह जैसे वृद्ध ने भी अंग्रेजों के खिलाफ हथियार उठा लियां निम्न लोकगीत के माध्यम से इस भाव को देखा जा सकता है–

"बबुआ मरलेऽ मराठा, जुझल सिखवा हो नाऽ
बबुआ पेशवा के पूतवाऽ, गुलामवा हो नाऽ
बबुआ, दिल्लीपति भईले कंगलवा हो नाऽ
बबुआ मंगलो पर मिले नाहिं भिखवा हो नाऽ
बबुआ, ओह दिन दादा लेहले तरवरिया हो नाऽ।।"7

अर्थात अंग्रेजों ने मराठों और सिक्खों को युद्ध में पराजित कर अपने अधीन बनाया। पेशवा बाजीराव के पुत्र को अपना पेशेवर गुलाम बनाया। दिल्लीपति मुगल सम्राट को जिनका शासन पूरे देश पर होता था उसका इतना शोषण अंग्रेजों ने किया कि वे इतने शक्तिहीन व कंगाल हो गए । आम जनता को मांगने पर भीख भी नहीं मिलती थी । देश के शासकों की इस बुरी स्थिति को देखकर कुँवर सिंह जैसे वृद्ध तक ने तलवार उठा लिये। अंग्रेजों के इस भयंकर अत्याचार से त्रस्त होकर कुँवर सिंह जैसे वृद्ध ने भी हथियार उठा कर किस प्रकार अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में शामिल होने के लिए लोगों को न्योता दिया इसका अत्यंत ही मार्मिक चित्रण निम्न संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है–

"गाँव –गाँव में डुग्गी बजल, बाबू के फिरल दुहाई
लोहा चबवाई के नेवता बा, सब साज आपन दल–बदल।
बा जन गवनकी के नेवता बा, चूंड़ी फोरवाई के नेवता बा,
सेंदूर पोछवाई के नेवता बा, राँड़ कहवार के नेवता बा।
जेई ने हमरा के माथ देई, जेई हो हमरा के साथ देई,
बा इहाँ ना मौका समझाएके, बा इहाँ ना मौका बुझाए के,
कि तो फेरो नेवता हमार कि तो तैयार हो जुझे के।।"8

अर्थात् गाँव– गाँव में डुग्गी पीटकर बाबू कुँवर सिंह के नाम की दुहाई देकर न्योता दिया जा रहा है कि आप सभी का अपना दलबदल साजकर कुँवर सिंह के साथ आने का निमंत्रण है, यह न्योता शादी ब्याह का नहीं है बल्कि अंग्रेजों से युद्ध रूपी लोहा चबाने का न्योता है। अपनी शवयात्रा का न्योता है अपनी पत्नियों के चूड़ी फोड़वाने का, माथे का सिंदुर पोछवाने का और राँड़ अर्थात विधवा कहलाने का न्योता है। उन सभी को निमंत्रण है जो कुँवर सिंह की अर्थी को कंधा दे सकने या युद्ध में उनका साथ दे सकने के लिए तैयार है। अब समझाने बुझाने का मौका नहीं हैं या तो हमारा न्योता लौटा दीजिए या फिर अंग्रेजों के खिलाफ मेरे साथ लड़ने के लिए तैयार हो जाइए।

इतने मार्मिक ढंग से न्योता दिये जाने का कारण आम जन का अंग्रेजों के अत्याचारों से त्रस्त हो जाना ही है । इस उद्वेलन के परिणामस्वरूप पूरे देश के भिन्न–भिन्न भागों में क्रान्ति फैल गयी । ब्रिटिश सत्ता के प्रमुख प्रतीकों जैसे कोर्ट कचहरी पर क्रान्तिकारियों ने अपना कब्जा किया जैसा कि निम्न लोकगीत में कहा गया है–

हो रामा, आरा पर कईले चढ़इया रे ना,
हो रामा, कचहरी के उपरवा रे ना,
हो रामा, कुंवर सिंह करेला अधिकरवा रे ना।।9

(कचहरी पर अधिकार करना ब्रिटिश राज के खात्मे का प्रतीक था। हालांकि ब्रिटिश सरकार के सभी प्रतीकों पर हमला किया गया था लेकिन कचहरी पर हमला सबसे बड़ा था।)

कचहरी पर अधिकार करना ब्रिटिश राज के खात्मे का प्रतीक था। हालांकि ब्रिटिश सरकार के सभी प्रतीकों पर हमला किया गया था लेकिन कचहरी पर हमला सबसे बड़ा था।

कुँवर सिंह किस प्रकार बक्सर से पटना आए और पटना के मजिस्ट्रेट का बंगला फुंकवाया इस विषय को भी अत्यंत ही रोचक ढंग से एक लोकगीत में प्रस्तुत किया गया है –

"बक्सर से जो चले कुंवर सिंह, पटना आकर टीक,
पटना के मजिस्टर बोले करो कुंवर को ठीक,
एतना बात जब सुने कुंवर सिंह दे बंगला फुँकवाय,
गली–गली मजिस्टर रोये, लाट गये घबराय।।"10

क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों को पराजित ही नहीं किया वरन लूटा भी। इस लूट की मर्दानगी सम्मान व प्रतिष्ठा का प्रतीक माना गया। निम्न लोकगीत के माध्यम से इस बात को देखा जा सकता है जिसमें यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार मेरठ के सदर बाजार में क्रान्तिकारियों ने अंग्रेजों से तोप, घोड़ा व तमंचा लूटा–

"फिरंगी लुट गयो रे सदर बजार में,
तोप लुट गयी, घोड़ा लुट गयो,
तमंचा लुट गयो रे चलत बाजार में।।"11

यही नहीं इस लूट के दौरान उपयुक्त अवसर को छोड़नेवालों के ऊपर किस प्रकार उनकी पत्नियों ने व्यंग्य किया यह भी निम्न लोकगीता के माध्यम से अत्यंत ही भावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है–

"लोग सब लुटे ला साल, दुसाला, हमार सैयां जी लुटेलें रूमाल,
मेरठ के सदर बाजार बा, हमार सैयां जी लुटे ना जाने..... ।।12

मिर्जापुर के एक लोकगीत के माध्यम से यह पता चलता है कि किस प्रकार कमिश्नर मूर को उदवन्त सिंह के भाई झूरी सिंह मार कर भगाते है। और उनकी भाभी किस प्रकार प्रसन्न होती है। देवर और भाभी के बीच के संवाद की निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है–

देवर कहते हैं
"घोड़वा पर चढ़ि के पराय गयो 'मूरवा',
कईसे ले आईं भउजी, तोरे आगे मूँड़वा।13

भाभी प्रसन्न होकर कहती है
हमार देवर जुझारू हो, भौजी बलि–बलि जाय,

लेके चले जब भलवा हो प्रलय मच जाय।
मूरवा के कवन बिसतिया हो, दर कुरवा लगाय,
अचरज हमें बड़ होला हो, बिनु हटे कउनी आय।।"14

कुँवर सिंह की अवस्था व उनके पारिवारिक संबंधों द्वारा जिम्मेदारी उठाने को लेकर कहा गया है कि–

"जीरा अईसन दाँत हो जाये,
आ सन अईसन बार हो जाए
जुल–जुल माँस लटकत जाए,
बाँह में कूबत मिट जाये।
कईसे तेगा पकडूं मैं
कईसे 'मनी' (तत्कालीन कलक्टर) को मारूँ मैं।
तबले अमरसिंह बोले का,
सुन भईया मेरी बात,
बईठल भईया पान चबाओ
मैं अंगरेजों को देख लूँगा।।"15

लड़ाई के चरणों का वर्णन करते समय, कुँवर सिंह को नेता मानते हुए भी आम सिपाही को नहीं भूला गया है–

"पहिली लड़ईया कुँवर सिंह, जीतले,
दूसरी अमरसिंह भाई।
आहे तीसरी लड़ईया सिपाही सब जीतले,
उठे लाट घबड़ाई।।"16

कुँवर सिंह व अमर सिंह को हमेशा पारम्परिक स्नान व चन्दन लेप कर युद्ध के लिए तैयार दिखाया गया है–

"सिर से गोसुल किया बनाई,
चनन लगाओ आठो अंग।
वर्दी पेटी ले मंगवाओ,
झालम झार ले मंगवाओं।।"17

किस प्रकार कुँवरसिंह विभिन्न राजाओं, जमींदारों और अपने सगे संबंधियों को अपने टेकरी, डुमराँव, डान्नीपुर व रामगढ़ विजय का संदेश देते हैं और अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में उनकी मदद मांगते है इन सारी बातोंको एक लोकगीत में निम्न प्रकार से पिरोया गया है–

"सोने क कलम हाथों में ले लिख परवाना भेजे केऽ
जा टेकरी दाखिल हुआ, जा डुमराँव दाखिल हुआ,
जा डालीपुर दाखिल हुआ, जा रामगढ़ दाखिल हुआ,
सुन तो बाबू मेरी बात, गोतिया भाई आप कहाते,
मेरी मदद पे आओ काम,मैं अंगरेजों से बिगड़ा हूँ,
मेरी मदद पे आओ काम।।"18

एक क्षेत्रीय कवि सखावत राय द्वारा युद्ध के बाद के दृश्य का आँखो देखा विवरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है–

"गिद्ध मेड़राई स्वान, सियार आनन्द छाये।
कहीं गिरे गोरा कहीं हाथी बिना सूँढ़ के।।"19

अनेक स्थानों पर अंग्रेजों के साथ हुए युद्ध में कुँवरसिंह की विजय के बाद अंग्रेजों के बंगलों पर कब्जा कर आम जनता किस प्रकार उत्साहित होकर उत्सव मनाती है इसे भी एक लोकगीत के माध्यम से निम्न प्रकर से प्रस्तुत किया गया है

"बंगला पे उड़ेला अबीर हो लाला,
बंगला पे उड़ेला अबीर हो बाबू,
बाबू कुँवर सिंह तेगवा बहादुर,
बंगला पे उड़ेला अबीर।।"20

क्रान्ति के दौरान क्रान्तिकारियों ने कई बार जंगलों में शरण लिया जहाँ अंग्रेजों द्वारा तोप ले जाना मुश्किल था। इस बात की भी निम्न प्रकार से एक लोकगीत ने प्रस्तुत किया है।

"सुन जनरल मेरी बात, तुम्हारी तोप माता है,
मेरा जंगल पिता है, मैं जंगल नहीं छोड़ूंगा।।"21

कुँवरसिंह द्वारा युद्ध के लिए आहवान पर विभिन्न जमींदार किस प्रकर उनकी सहायता के लिए तैयार थे इसकी एक बानगी निम्न लोकगीत के माध्यम से देखी जा सकती है जिसमें बलिया के जमींदार निधा सिंह , कुँवरसिंह के दूत को उत्तर देते हुए कहते हम कुँवरसिंह अन्य क्रान्तिकारी भाइयों का नाम नहीं हँसवाएगें अपनी साथी सम्पत्ति हाथी, घोड़ा बेचकर भी क्रान्तिकारी सिपाहियों को खिलाकर उन्हे युद्ध के लिए तैयार करेगें। यहाँ यह ध्यातव्य है कि हाथी और घोड़े सामन्ती प्रतिष्ठा के प्रमुख प्रतीक थे लेकिन इस युद्ध हेतु उन्हे भी बेचने की बात कही गई है–

"लडऽब ना त का करब भाईन के हँसाईबऽ।
हाथी घोड़ा बेंचि के, सिपहियन के खियाइबऽ।।"22

कुछ वैसे जमींदारों व राजाओं को जिन्होंने कुँवरसिंह का साथ नहीं दिया था एक लोकगीत के माध्यम से गाली दी गई है

जे ना दीहें कुँवर सिंह के साथ,
उ अगिला जनम में सुअर।।"23

इस क्रान्ति में महिलाओं की भी अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। महिलाएँ अपने पतियों को युद्ध के लिए निरंतर प्रेरित करती रहती थी। यहाँ तक की जो अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में भाग लेने नही जाता था उससे घर की महिलायें कहती थी कि तुम मुँछ मुड़वा के, साड़ी और चूड़ी पहनकर औरत बन जाओ और घर में बैठो । मैं हथियार लेकर लड़ने जा रही हूँ मैं तुम्हारी इज्जत रख लूँगी। इतने उद्वेलनकारी वचनों से मर्माहत होकर पुरूष युद्ध के लिए अवश्य निकलता था। निम्न लोकगीत द्वारा इसका चित्रण किया गया है–

"लगे शरम लाज त घर में बैठ जाहू
मरद से बनि के लुगाई ए हरि।
पहिर के साड़ी, चूड़ी, मुँछवा छिपाई लेहू,
रखि लेब तोहरी पगड़िया ए हरि।।"24

इतना ही नहीं घर की महिलाओं ने कुँवरसिंह के राज के बिना अर्थात् क्रांन्तिकारियों के विजय के बिना होली जैसे महान पर्व की भी न मनाने का संकल्प कर लिया था। निम्न लोकगीत से यह बात स्पष्ट होती है–

"बाबू कुँवर सिंह तोहरे राज बिना,
अब ना रंगाईब केसरियाऽ.....।।"25

कुँवरसिंह ही नहीं बल्कि उनके घोड़े के प्रति भी आम जनता का कितना प्रेम था यह निम्न लोकगीत के माध्यम से पता चलता है जिसमें कुँवरसिंह द्वारा घोड़े को जल्दी जल्दी दूध पिलाने तथा लड़ाई जीतने पर उसके चारों खूरों में सोना मढ़वाने की बात कही गयी है–

"बाबू कुँवर सिंह के नीलका बछड़वा
पीयेला कटोरवाँ दूध,
हाली हाली दुधवा पीयावा ए कुँवरसिंह
रैन जाए के बाड़े दूर,
अबकी लड़ईया जिताओ ए बछड़वा,
सोनवा मढ़ाईब चारो खूर।।"26

यद्यपि कुँवरसिंह को कुछ जमींदारों का सहयोग प्राप्त हुआ था फिर भी डुँमराव के राजा तथा अन्य कई जमींदारों ने उनको सहयोग नहीं दिया था। बहुतों ने तो सहयोग का वचन देकर उल्टे अंग्रेजों का सहयोग किया। इस प्रकार की गद्दारी को निम्न लोकगीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है–

होता है कि लोगों के वस्त्रों पर मनोरम वस्तुओं के चित्र बनते थे। ऐसी आकर्षक वस्तुओं में पक्षी, पुष्प पत्र, तारे आदि विषयों का भी अंकन किया गया है। 'आचारांगसूत्र' में उल्लिखित है कि शुक्र ने जो महावीर को हंसदुकूल पहनाया था वह इतना पतला था कि हवा का एक मामूली झटका उसे उड़ा ले सकता था। कालिदास ने रघुवंशम्[9] तथा कुमारसम्भव[10] में 'हंसदुकूलचिहिन्त' वस्त्रों का वर्णन किया है। बाण[11] ने भी कादम्बरी में शुद्रक को गोरोचना से चित्रित 'हंसमिथुन' दुकूल युगल पहने हुए वर्णित किया है।

गुप्तकालीन पुरूष धोती दुपट्टे और स्त्रियां साड़ी तथा स्तन पट्ट का उपयोग करती थी। इसका मुख्य कारण था कि यहां की जलवायु अधिकतर गरम और खुश्क होने के कारण धोती, दुपट्टा, चादर, साड़ी आरामदायक होते थे साथ ही पहनने के लिए उपयुक्त थे। पुरूषों की वेशभूषा में मुख्य रूप से तीन वस्त्र होते थे पगड़ी, जोड़ा (दुकूलयुग्म), उत्तरीय (चादर) तथा अधोवस्त्र (धोती)। बाण ने हर्ष को दो वस्त्र पहने हुए बताया है एक अधोवस्त्र और दूसरा उत्तरीय। अधोवस्त्र के ऊपर नेत्रसूत्र रेशम का पटका बँधा हुआ था। (नेत्रसूत्रानिवेशशोभिन्ध अधरवासा) दूसरा वस्त्र जो उत्तरीय था उसमें जामदानी की भांति छोटे–छोटे सितारे टंके हुए थे। कादम्बरी में उत्तरीय के लिए 'अधिवास' शब्द का प्रयोग हुआ है। शुद्रक तथा केयूरक को श्वेत वर्ण के दो वस्त्रों से युक्त बताया गया है। अभिषेक से निवृत होकर राजा को साँप की केचुली की तरह अत्यन्त झीने और हल्के दो धुले हुए श्वेत वस्त्र उत्तरीय और धोती धारण किये तथा सिर पर रेशमी वस्त्र के पल्लें का उष्णीय धारण किये वर्णन मिलता है। उत्तरीय धारण करने की अलग–अलग शैली थी। कभी–कभी इससे दोनों कंधे ढके रहते थे और कही–कही दाहिना कंधा खुला रहता था। उच्च वर्ग के लोग कमरबंध से बंधी धोती और सिर पर उष्णीय पहनते थे। कालिदास के रघुवंशम्[12] में राजा दिलिप की राजसीयुक्त पगड़ी और अंज[13] की मनोहर पगड़ियों का वर्णन किया गया है। कालिदास ने उत्तरीय[14] को क्षौमयुग्म और अधोवस्त्र को 'दुकूलयुग्म'[15] कहा है।

गुप्त नरेशों के सिक्के पर अंकित आंकृतियाँ वेशभूषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं सिक्कों पर समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम के वीणावादन प्रकार के सिक्कों में अंकित राजा को मात्र एक छोटी धोती पहने अंकित किया गया है, उनका उर्ध्वभाग वस्त्रविहीन है। गुप्तकालीन कलाकृतियों में द्वारपाल आकृतियों का भी उत्कीर्णन हुआ है। जिसमें उदयगिरि के द्वारपाल की वेशभूषा विशेष उल्लेखनीय है। यह घुटने तक सकच्छ शैली में मेखला से बंधी धोती पहने हैं। इसका ऊपरी भाग नग्न है। यह दुपट्टे को कमर पर बांधे हैं जिसका दोनों सिरा पंखवत् अलंकृत है। यह घुटने तक जूता धारण किये है। सिले वस्त्रों के अन्तर्गत पुरूष कंचुक, चीनचोलक, बारबाण तथा कूर्पासक पहनते थे। कंचुक का प्रयोग आधुनिक कोट और चोली के अर्थ में होता था। साधारणतया पुरूषों द्वारा पहना गया कंचुक घुटने तक होता था। गरूड़ध्वजी प्रकार के सिक्कों पर समुद्रगुप्त को कंचुक पहने अंकित किया गया है। कंचुक के दोनों किनारे नोकदार निकले हुए है। ''चीनलोचक'' का प्रचलन भारत में कुषाण काल से ही था।[16] बाण ने राजाओं के चीनलोचक पहने होने का वर्णन किया है। यह पहनावा जैसा कि नाम से प्रकट होता है कि यह चीन देश से यहाँ आया। अमरकोश में कूर्पासक को चोली के समानार्थक बताया है।[17] डा0 मोती चन्द्र ने कूर्पासक को आधी बांह का मिर्जई कहा है। कालिदास ने इसे चोली होने के ही अर्थ में वर्णित किया है। बाण ने कहा है कि राजाओं का एक वर्ग कई रंगों से रंगा हुआ चितकबरेपन का आभास लिए वस्त्र पहनते थे।[18] ''वारवाण'' नामक वस्त्र घुटने तक आने वाला पूरी बाँह का कंचुक के समान पहना जाने वाला युद्धवेश के रूप में जाना जाता था। भारत में यह ईरान से आयातित 'रत्तवरक' नामक विशेष वस्त्र से बनता था। सम्भवतः यह वेशभूषा सासानी ईरानियों की वस्त्रकला से लिया गया है और गुप्त काल में बनाया गया होगा।[19]

''आच्छादनक'' एक प्रकार की छोटी सी चादर या उपरना होता था जिसे कंधे की शोभा बढ़ाने के लिए दोनों कंधों पर से आगे वक्ष पर गाँठ लगाकर ओढ़ा जाता था। जिसे सामान्यतया पुरूष ओढ़ते थे। कभी–कभी स्त्रियों द्वारा इसे ओढ़े दिखाया गया है। हर्षचरित में हर्ष के साथ युद्ध अभियान पर जाते हुए राजा व राजकुमार द्वारा आच्छादनक धारण करने का उल्लेख है।[20] दुकूल नामक वस्त्र बंगाल में सर्वाधिक बनता था। उसके बड़े थान को काटकर धोती उत्तरीय (दुपट्टा) साड़ियाँ, पलंग की चादरे, तकिया के गिलेफ आदि बनाये जाते थे।

सन्दर्भ–

1. सीताराम चतुर्वेदी, कालिदास ग्रंथावली रघुवशम्, 16/43 पृ0 194।
2. वी0 एस0 अग्रवाल, हर्षचरित में वर्णित भारतीय वस्त्र, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ0 315।
3. वी0 एस0 अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 14–15।
4. अमरकोश, 2/6/116।
5. वही, 2/6/118।
6. हरगोविन्द शास्त्री, मनुस्मृति, अध्याय 4, पृ0 188।
7. विष्णुपुराण, 3/11/66॥
8. शिवशेखर मिश्र, सोमेश्वर मानसोल्लास : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 260।
9. रघुवशम्, 17/25।
10. कुमारसम्भव, 5/67।
11. बाण कादम्बरी, पृ0 26। अमृतफेनधवले गोरोचनालिखित हसमिथुनरानाथ। पर्यन्ते चामरपवन प्रवर्तितत्तादेशे दुकूले वसानम्।
12. रघुवंशम्, 1/42।
13. वही, 8/12।
14. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/5।
15. रघुवंशम्, 7/18।
16. बाण, हर्षचरितम्, पृ0 369; वासुदेव शरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 154।
17. अमरकोश, 2/6/118।
18. डॉ0 मोतीचन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ0 161।
19. डॉ0 सीताराम चतुर्वेदी, कालिदास ग्रंथावली, रघवंशम् 4/56।
20. डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, हर्षचरित में वर्णित भारतीय वस्त्र, पृ0 153।

*विभागाध्यक्ष, वस्त्र विज्ञान एवं परिधान
श्री अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी0 जी0 कालेज,
परमानन्दपुर, वाराणसी

उत्तरी भारत में समाज का वर्गीकरण

विमलेश कुमार पाण्डेय*
मुकेश कुमार मिश्र**

प्राचीन भारतीय समाज वर्ण एवं जाति में विभाजित था, समाज का यह विभाजन सामाजिक (वंश–परम्परा तथा रीति–रिवाज के कारण), आर्थिक (आजीविका की दृष्टि से), राजनीतिक, धार्मिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम था।

सर्वप्रथम वर्ण का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है।[1] 'वर्ण' का अर्थ विभिन्न लोगों के जातिगत समूह की ओर संकेत करता है। वर्ण का विचार कर्म पर बल देता है जबकि जाति व्यवस्था जन्म और वंश पर अधिक बल देती है। धर्मशास्त्रों से जाति व्यवस्था के कुछ विशिष्ट गुणों की सूचना मिलती है इन्हीं गुणों के परिणामस्वरूप एक जाति दूसरे से भिन्न आचरण करती हुई पायी गयी है। ये गुण हैं–वंश परम्परा, जाति के भीतर ही विवाह करना एवं एक ही गोत्र या कुल विशिष्ट में विवाह करना, भोजन–पान सम्बन्धी निषेध, व्यवसाय (आजीविका के आधार पर), जाति व्यवस्था एवं जाति श्रेणियाँ या कुछ उच्च और कुछ निम्न इत्यादि।[2] सातवीं शताब्दी में भारत आये चीनी यात्री ह्वेन सांग ने चारों वंशानुगत जातियों का उल्लेख अलग–अलग पेशे के साथ किया है।[3] आधुनिक समाजशास्त्रियों का विचार है कि जाति कुटुम्बों का वह समूह है जिनका अपना एक निजी नाम है और जिसकी सदस्यता पैतृकता के आधार पर निर्धारित होती है। कुटुम्ब इस जाति के भीतर ही विवाह करते हैं और जिसका या तो अपना निजी पेशा होता है अथवा जो अपना उद्भव किसी पौराणिक देवता या पुरुष से सम्बद्ध मानते हैं।[4]

प्राचीन भारतीय समाज में चार वर्ण थे–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। चारों सामाजिक वर्ण सैद्धान्तिक रूप से यद्यपि कि पूरे देश में अस्तित्व में रहे, फिर भी स्पष्ट व्याख्याओं के आधार पर इस व्यवस्था में नये वर्गों को भी स्थान दिया गया, परिणामस्वरूप विवेच्य काल में कई उपजातियाँ अस्तित्व में आयीं। आठवीं शती से समाज पर इस्लाम धर्म का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। इससे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के समक्ष एक गंभीर चुनौती उत्पन्न हुई, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू समाज में रूढ़िवादिता की वृद्धि हुई, वैसे यवन, पहलव, शक, कुषाण, आभीर, गुर्जर आदि विदेशी विविध जातियों और उनकी संस्कृतियों के सम्मिलित योग ने गुप्तकालीन समाज को अनायास ही उदार बना दिया था। इन विसंगतियों ने भारतीय उत्तर देशीय जीवन के प्रत्येक भाग और वर्ण के जीवन को प्रभावित किया था। अधिकतर उन्होंने भारत के धर्म, देशी नाम, भाषा आदि स्वीकार कर लिये थे और अपने संयोग से भारतीय धर्म, कला, विज्ञान, साहित्य आदि की सभी प्रकार से उन्नति की थी। तत्कालीन भारतीय व्यवस्थाकारों ने भी अपनी वर्ण व्यवस्था की संधियां कुछ ढीली करके उन्हें आत्मसात करने का प्रयत्न किया था।

प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्ण ब्राह्मणों का था। कई शताब्दियों तक इन ब्राह्मणों ने उस संस्कृति की आत्मा और आकार को अक्षुण्ण बनाये रखा जिसमे सम्पूर्ण देश को गौरव प्रदान किया था। अध्ययन और संस्कृति का अनुसरण इस जाति का प्रमुख गुण था। वर्णों की उत्पत्ति विषयक प्रथम उल्लेख ऋग्वेद में आया है।[5] याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र की उत्पत्ति क्रमशः आदि देव के मुख, बाहु, उरु, और पैरों से बतायी गयी है। ऐसा ही उल्लेख मनु ने भी किया है।[7] अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसी को दुहराते हैं।[8] विष्णु पुराण और मत्स्य पुराण में भगवान विष्णु के मुख, भुजा, जंघा और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति बतायी गयी है।[9]

भारतीय समाज पर धर्म या धार्मिक दृष्टिकोण के प्रभाव के फलस्वरूप ही वर्ण के विकास क्रम को महत्व देकर उसकी दैवीय उत्पत्ति की ही कल्पना को समय–समय पर दुहराया जाता रहा है। समाज पर धर्म का प्रभाव इतना गहरा था कि जैन आदि पुराण में भी प्रथम तीर्थंकर द्वारा वर्णों की स्थापना की कल्पना की गयी।[10]

जब वैदिक काल में वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रथम बार विचार किया गया उस समय ब्राह्मणों के समूह वंशानुगत की तुलना में पेशेवर अधिक थे। शतपथ ब्राह्मण में यह उल्लेख है कि श्रोत्रिय और राजा दोनों धर्म के समर्थक थे।[11] ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित है कि राजा को सर्वप्रथम एक पुरोहित खोजना चाहिए क्योंकि वह राजा का अर्द्धात्मा होता है।[12] परन्तु प्रारम्भिक मध्यकालीन युग में हम ब्राह्मण और क्षत्रिय को दो विशिष्ट, पृथक और दृढ़ जातियों के रूप में पाते हैं, वर्ण अपना मूल अर्थ खो चुका था और जाति का समानार्थी हो गया था।

राजा का प्रथम कर्तव्य धर्म को समर्थन देना था। इस विचाराधीन युग के विवरणों को देखा जाये तो यह पता चलता है कि राजा सभी स्मृतियों द्वारा बनाये गये समाज के पारम्परिक विभाजन के संरक्षण के प्रति विशेष सावधानी रखता था। इसमें उनका उल्लेख वर्णाश्रम धर्म के संरक्षण के रूप में किया गया है। मेधातिथि (900ई0) ने भी इसी विचार का समर्थन किया है। उनके अनुसार प्रशंसनीय आचरण वाला क्षत्रिय राजा म्लेच्छों की जमीनों पर कब्जा कर वहां चातुर्वर्ण्य की स्थापना कर सकता था।[13] अभिलेखों से भी इसी प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है। चाहमान राजकुमार के बारे में कहा गया है कि उसने म्लेच्छों को पूरी तरह नष्ट कर दिया था और आर्यावर्त को एक बार फिर आर्यों का स्थान बना दिया।[14] धर्मपाल के एक वर्णन में राजा को सभी वर्णों का सम्मानजनक समर्थन देने का श्रेय दिया गया है।[15]

इसके अतिरिक्त विग्रहपाल तृतीय के आमागादी आदेश (1054 ई) में पाल राजाओं को चार जातियों का संरक्षक बताया गया है।[16] वर्णाश्रम धर्म उड़ीसा में पूर्णतया अक्षुण्ण था, अतः राजा क्षेमकर ने वर्णाश्रम को सम्मान दिया।[17]

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राजा यथास्थिति बनाये रखने के लिए सामाजिक व्यवस्था के रख–रखाव में दखल देते थे और कुछ हद तक लोगों को वर्णाश्रम धर्म को

सम्मान देने के लिए 'बाध्य' करते थे। यह उत्तरी भारत पर विदेशियों के आक्रमणों के कारण हुआ, जिससे कि उन्हें सामाजिक अनुशासन बनाये रखना था। स्मृतिकारों ने भी पारंपरिक व्यवस्था के प्रति सहमति को बनाये रखने के लिये नियम लागू किये। देवल स्मृति इस दिशा में एक कदम था जिसमें इस्लाम से हिन्दू के पुनरूर्पान्तरण को रोका गया था।

घूर्ये ये मानते हैं कि वैश्यों का शूद्रों में प्रगतिशील सम्मिलन और उसका सत् असत् में विभाजन भी उपजातियों के विकास के लिए एक कारण था जो कि सम्पूर्ण उत्तरी भारत पर लागू होता है।[18] वी. एन. एस. यादव का विचार है कि बारहवीं शताब्दी ई0 तक समाज में जाति प्रथा के विरोध की जो भावना प्रबल हुई उसके लिये निम्न वर्गों की आर्थिक स्थित में सुधार होना भी एक प्रमुख कारण है।[19] समाज में चार वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णसंकर जातियों और उपजातियों की वृद्धि हुई जो परस्पर वर्णनशील और सामाजिक व्यवहार में अनुदार थी। जीवन के प्रवाह और प्रसार के बदले उसमें अवरोध, संकीर्णता और वर्णनशीलता ने घर कर लिया। सामाजिक दृष्टि से यह एक प्रकार से असावधानता, प्रमाद और ह्रास का युग था।[20]

इस काल के कुछ पहले और इसके आरम्भ में भी वर्ण परिवर्तन संभव था। जैसे सभी वर्ण के लोग राज्य प्राप्त कर क्षत्रिय पद पा सकते थे। इसके दृष्टान्त, वाकाटक, गुप्त, पुष्यभूति और सिन्ध के शूद्र राजवंश थे। परन्तु इस समय सभी वर्णों और जातियों में जड़ता आ रही थी। अपने वर्ण, जाति और उपजाति के छोटे–छोटे दायरे में सभी अपने को सुरक्षित समझते थे और इनकी प्रकृति छोटी से छोटी इकाई में रहने की थी। इन सभी इकाइयों के सामाजिक नियम उपनियम बनते जाते थे जो सब इकाईयों को एक दूसरे से अलग करते थे। इससे विशाल भारतीय समाज में वर्णों एवं जातियों को स्थान था किन्तु उसमें केन्द्रीय एकता नहीं थी। सातवीं सदी के पहले आने वाली अनेक विदेशी जातियां उस समय के भारतीय समाज में मिल गयी थी, किन्तु इस काल में और इसके अंत में आने वाली जातियां नहीं पच सकी। इसके लिए भारतीयों की वर्णनशीलता विशेष रूप से उत्तरदायी थीं।[21] समाज के श्रेष्ठ वर्ण जैसे ब्राह्मण आदि समाज के दूसरे वर्ण (निम्न वर्ग) के सम्पर्क में आना अनुचित एवं अपमान जनक समझने लगे तथा उनसे घृणा करने लगे। इस प्रकार इस समय समाज में जड़ता और संकीर्णता प्रारम्भ हो गयी थी, फिर भी समाज में अभी कुछ लचीलापन था। सवर्ण विवाह अच्छा माना जाता था। अन्तर्जातीय तथा अन्तधार्मिक विवाह के कई उदाहरण पाये जाते हैं। ब्राह्मण कवि राजशेखर के चाहमान राजकुमारी से तथा गाहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र ने बौद्ध राजकुमारी से विवाह किया था।

विभिन्न सर्वेक्षणों से चार जातियों के अतिरिक्त (उप जातियों सहित) एक पांचवीं जाति भी विवेच्य काल में अस्तित्व में थी। स्मृतियों में भी जाति का उल्लेख इसी प्रकार किया है। पांचवें वर्ण (अन्त्यज) ''अनुलोम' और 'प्रतिलोम' विवाहों के कारण अस्तित्व में आया। अलबरूनी ने 16 जातियों का उल्लेख किया।[22] जिसमें से चार काफी प्रसिद्ध थे, पांच अर्द्ध अस्पृश्य और सात अस्पृश्य थे। कल्हण ने 64 जातियों का वर्णन किया है जो स्वयं राजा द्वारा आयोजित बलि उत्सवों में उचित रूप से हिस्सा लेते थे।[23]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि दसवीं से बाहरवीं शताब्दी ई. की मुख्य विशेषता जातियों का विभिन्न शाखाओं में विभाजन था। इसके अतिरिक्त इस काल की अन्य विशेषता मुस्लिमों द्वारा उत्तरी भारत के मैदानी इलाकों में आक्रमण और हिन्दुओं का उनके राजनीतिक और सामाजिक अर्थ व्यवस्था में कमजोरी इस्लामी शक्ति के देश में 'पनप पाने का मुख्य कारण था। इसने हिन्दू समाज में उथल–पुथल मचा दिया और मुस्लिम अपने विजित क्षेत्र में बस गये।

सन्दर्भ–

1. ऋग्वेद, 2.12.14; 1.170.6; 1.10.42; 3.34.9
2. काणे, पी. वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, पूना 1930–53, भाग–1, पृष्ठ 109
3. वाटर्स, टी. आन युवान च्वांग ''स ट्रेवेल इन इण्डिया, लंदन, 1905, भाग–1, पृष्ठ 168
4. अर्गल, राजेश्वर प्रसाद, समाजशास्त्र, पृष्ठ 201
5. ऋग्वेद, 10.92.12
6. याज्ञवल्क्य स्मृति, 3.126
7. मनुस्मृति, 1.31
8. शतपथ ब्राह्मण 5.4.6.9, महाभारत शांति पर्व, 118.6–14
9. विष्णु पुराण, 1.12, 63–64, मत्स्य पुराण, 4.28
10. आदिपुराण, 16.84–86, 38. 45–46
11. एषच श्रोतियश्चैतो हवं द्वौ मनुष्येणु धृतव्रतौ–श0ब्रा0 4.45 राजा वृक्षों ब्राह्मणः तस्य मूलं, राजाधरमोकड़, (11वीं सदी)। गायकवाड़ ''स ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा, पृष्ठ 173
12. ऐतरेय ब्राह्मण, 3.4.8
13. मनुस्मृति, 2.23
14. एपिग्राफिक इण्डिका, 19, पृष्ठ 215
15. वर्णानान् प्रतिष्ठापयता स्वधर्म्मे। इण्डियन एन्टिक्वरी, भाग 21, पृष्ठ 255
16. चातुर्वर्ण्य समाश्रयः। वही, पृष्ठ 99
17. वर्णाश्रम परमोपासक। वही, भाग 15, पृष्ठ 3
18. घुर्ये, जी. एस. : कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, न्यूयार्क, 1950, पृष्ठ 91
19. यादव. बी. एन. एस. : सोसायटी एण्ड कल्चर ऑफ नार्दन इण्डिया इन 12 सेन्चुरी, इलाहाबाद, 1973
20. पाण्डेय, 'राजवली, प्राचीन भारत, जबलपुर, 1960, पृष्ठ 365
21. वही, पृष्ठ 368
22. सखाऊ, अलबरूनीज इण्डिया, लंदन, 1910, भाग 1, पृष्ठ 100–102
23. राजतरंगिणी, 8, 2406

*वरिष्ठ प्रवक्ता (प्रा.इति.संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग), सल्तनत बहादुर पी.जी. कालेज, बदलापुर, जौनपुर (उ0प्र0)

**शोध छात्र (प्रा.इति.) मड़ियाहूं पी.जी. कालेज मड़ियाहूं, जौनपुर (उ0प्र0)

जवाहरलाल नेहरू की विश्वव्यापी मानवतावादी दृष्टि

प्रज्ञा सिंह*

सृजनात्मक उपलब्धियों के सतत् प्रणेता, मानव प्रेमी, विश्व–शान्ति के अग्रदूत तथा भारत के चतुर्दिक विकास के सर्वोपरि कड़ी के रूप में पं0 जवाहरलाल नेहरू ने विश्व बन्धुत्व की भावना को एक मजबूत आधार देते हुए मानवतावादी विचारधारा अपनाकर एक नये युग का सूत्रपात किया।

दूसरे विश्वयुद्ध की विभीषिका में जब सम्पूर्ण विश्व का अस्तित्व सुलग उठा तथा समस्त मानवता कराह उठी, ऐसी स्थितियों में सभी को भोजन, आवास और अच्छा स्वास्थ्य देना एक विकराल समस्या थी, तब नेहरू का एक युग द्रष्टा नारा अपनी इस मानवतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है–आराम हराम है और उत्पादन बढ़ाओ या मरो।

चूंकि नेहरू एक राजनीतिज्ञ थे, लेकिन आदर्शवाद में उनकी गहन आस्था जीवन भर बनी रही। पीड़ित और शोषित लोगों के प्रति उनके हृदय में अगाध–प्रेम और सहानुभूति के साथ नेहरू जी जीवनपर्यन्त, मानव–जीवन के उच्चतर मानदण्डों के लिए संघर्षरत रहें। मानव अस्तित्व और उसकी सत्ता में गहन विश्वास के साथ मानवतावाद में अटूट विश्वास के कारण ही वे लोकतांत्रिक समाजवादी बने रहे। अतः इस कारण साम्यवाद के हिंसक तथा साधनों के प्रति उन्हें कभी कोई आकर्षण नहीं रहा। इस सम्बन्ध में स्वयं नेहरू जी ने कहा है कि "मैं किसी धर्म अथवा मताग्रह से बंधा नहीं हूँ, परन्तु इसे कोई धर्म कहे या नहीं, मैं मनुष्यों की अन्तर्जात आध्यात्मिकता में विश्वास करता हूँ। मैं समझता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दिये जाने चाहिए। मैं ऐसे समानतापूर्ण समाज के आदर्श में विश्वास करता हूँ, जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच बहुत अन्तर न हो–भले ही इस आदर्श को प्राप्त करना कठिन हो।

जवाहर लाल नेहरू ने ऐतिहासिक दृष्टि से सम्प्रदायवाद की वृत्ति के कारणों का विश्लेषण करने और उसमे अन्तर्निहित आर्थिक ध्येयों को खोज निकालने की कोशिश की। नेहरू जी ने कहा है कि नस्ली और सांस्कृतिक भिन्नताओं का विभाजनों से कोई सम्बन्ध नही है। किसी व्यक्ति को अगर एक–दूसरे मजहब में मिला लिया जाता है, तो इससे उनका न तो ऐतिहासिक गठन और न उसकी नस्ली विशेषताएं बदलती है, न ही किसी बड़ी हद तक उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बदलती है। सांस्कृतिक श्रेणियां राष्ट्रीय होती है, धार्मिक नहीं और आधुनिक परिस्थितियों से एक अन्तर्राष्ट्रीय श्रेणी के निर्माण में सहायता कर रही है।

जवाहर लाल नेहरू ने सम्प्रदायवाद के विरोध में 1955 में कहा है कि हमें यह नहीं भूलना है कि सम्प्रदायवादियों का सोचने–समझने का तरीका बहुत खतरनाक है। अगर हम इस किस्म के सम्प्रदायवाद को कायम रहने देते है, फिर यह चाहे हिन्दू या मुस्लिम, सिक्ख या ईसाई सम्प्रदायवाद हो, तो भारत वह नहीं रहेगा, जो आज हैं। भारत के टुकड़े–टुकड़े हो जायेंगे।

नेहरू जी का मत है कि हिन्दुओं, मुसलमानों, ईसाईयों, सिखों तथा भारत के अन्य ऐसे ही समूहों के सैद्धान्तिक एकरूपीकरण से ही सच्ची राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास होगा।

पं0 नेहरू एक महान् मानवतावादी तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे, वे अन्तर्राष्ट्रीय शांति के अग्रदूत थे। उनके गुटनिरपेक्षतावादी सिद्धान्त व पंचशील के सिद्धान्त इस बात का निश्चय करते हैं कि राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय युद्ध द्वारा नहीं, बल्कि विचार–विमर्श द्वारा होना चाहिए। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि वे एक ऐसे शान्तिवादी थे जो शास्त्रों के प्रयोग को हर परिस्थिति में ठुकराने का उपदेश दिया। यद्यपि उनका आदर्शवाद ऊँचा है, लेकिन एक यथार्थवादी के रूप में अवसर पड़ने पर शत्रु को सम्पूर्ण शक्ति से मुकाबला करने में विश्वास प्रकट किया।

चूंकि पं0 नेहरू व्यापक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति है। उनमें अंधविश्वास, धर्मान्धता, रूढ़िवादिता तथा साम्प्रदायिकता लेशमात्र भी नहीं है। यद्यपि वे सच्चे राष्ट्रवादी थे, लेकिन राष्ट्रवाद के नाम पर वे मानवता का हनन करने को तैयार नहीं है।

नेहरू जी ने राष्ट्रवाद का कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया। उनका दृष्टिकोण विवेकानन्द और अरविन्द के राष्ट्रवाद सम्बन्धी धार्मिक दृष्टिकोण से सहानुभूति नहीं रखते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा प्रतिपादित समन्वयात्मक सार्वभौमवाद से प्रभावित है।

नेहरू ने संकीर्ण राष्ट्रीयता से बचते हुए राष्ट्रवाद को मानवता के समावेश पर बल देते हुए कहा कि राष्ट्रवाद के नाम पर धर्म, जाति और संस्कृति का सहारा नही लेना चाहिए। नेहरू ने राष्ट्रवाद के उदार स्वरूप को ग्रहण किया तथा ऐसे राष्ट्रवाद की आलोचना की, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में बाधक हो तथा अपने स्वरूप में आक्रामक हो क्योंकि उग्र–राष्ट्रवाद से नस्लवाद, राष्ट्रो के प्रति घृणा, साम्राज्यवाद, युद्धवाद जैसी बुराईयों का जन्म होता है।

इस प्रकार जवाहरलाल नेहरू ने समस्याओं को यथाशक्ति अपने नैतिक दृष्टिकोण के माध्यम से हल करने का प्रयास किया।

यथार्थ नेहरू और गांधी जी के विचारों में मतभेद रहा है लेकिन नेहरू ने जो नीतियां क्रियान्वित की। वे गांधी जी के स्वतंत्रता, अहिंसा, शांति, सर्वधर्म समभाव और निर्धनता उन्मूलन के विचारों पर ही आधारित है, जिसे उन्होंने नयी पीढ़ी के मस्तिष्क को एक प्रगतिशील वैज्ञानिक दिशा देकर प्रदान की है।

जवाहर लाल नेहरू का सम्पूर्ण दर्शन मानवतावाद की सबल पृष्ठभूमि पर आधारित होने के कारण समन्वयवादी है तथा उन्होनें गांधी और मार्क्स तथा भारतीय सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के श्रेष्ठ सिद्धान्तों एवं मूल्यों को मिलाकर एक नये विचार राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता, योजनाबद्ध विकास और समाजवाद, विश्वशान्ति एवं गुटनिरपेक्षता का सृजन किया।

अतः आज जब समस्त विश्व आतंकवाद और अलगाववाद की पैनी दूरियों से त्रस्त है, साम्प्रदायिकता की भावनायें, मशरूम की तरह दवा रही है। ऐसे में नेहरू की धर्मनिरपेक्षता, गुटनिरपेक्षता नीति, अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्व बन्धुत्व पर टिकी सहयोग की समन्वयकारी भावना इस मानवतावादी दृष्टिकोण में स्पष्ट दिखायी पड़ रही है।

सन्दर्भ–

1. जवाहर लाल नेहरू–हिन्दुस्तान की कहानी
2. Jawaharlal Nehru- Autobiography
3. M.A.Rajesekhariah-Jawaharlal Nehru's Contribution to secularism in India.
4. जवाहर लाल नेहरू–इण्डिया एण्ड दि वर्ल्ड
5. जवाहर लाल नेहरू–ए बन्च ऑफ लेटर्स
6. जवाहर लाल नेहरू–भारतीय चिन्तन परम्परा

*दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

परम्परागत शिक्षक-प्रशिक्षण की समस्यायें एवं समाधान

श्रीमती रश्मि सिंह*

किसी भी राष्ट्र की प्रगति का अध्ययन हम उसके विभिन्न क्षेत्रों को ध्यान में रखकर करते हैं। प्रगति के विभिन्न क्षेत्रों का प्रारम्भ शिक्षा जगत से ही होता है जो कि अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र है। इसको सभी क्षेत्रों या प्रगति का मुख्य आधार भी कहा जा सकता है। अतः राष्ट्र की प्रगति का सीधा सम्बन्ध शिक्षा जगत से होता है। अधिकतर शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षा को त्रिमुखी प्रकिया माना है। उनके कथनानुसार शिक्षा की प्रकिया में शिक्षक शिक्षार्थी तथा पाठ्यक्रम तीनों समान रूप में संलग्न होते हैं। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण पक्ष शिक्षक का होता है जो कि शैक्षिक प्रकिया की धुरी का कार्य करता है। क्योंकि वही शिक्षण प्रकिया को सम्पन्न कराता है।

एक शिक्षक सदैव एक शिक्षार्थी होता है। वह सदैव ज्ञान की खोज में संलग्न होता है। वह जिज्ञासु प्रवृत्ति का होता है। शिक्षक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। यदि वास्तव में देखा जाये तो शिक्षक का दायित्व अत्यन्त कठिन एवं महत्वपूर्ण है। अतः उसे अपने दायित्व का पूर्णतया पालन करने के लिये अन्य व्यवसायों की भांति प्रशिक्षित किया जाना अति आवश्यक है।

अन्य व्यवसायों की भांति शिक्षण भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवसाय है। आधुनिक समय में समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इस व्यवसाय से जुड़ा हुआ है। इसलिये शिक्षक प्रशिक्षण आयोग ने शिक्षण को किसी भी राष्ट्र की संस्कृति के संरक्षण एवं उसके विकास के लिये आवश्यक माना है। भारत जैसे राष्ट्र के लिये जहां पर विकास की गति तेज करनी है, मानव मस्तिष्क का पुनर्निर्माण करना है, मानव शक्ति का विकास करना है वहां, उच्च श्रेणी के शिक्षकों तथा प्रशिक्षण की महती आवश्यकता है। अतः शिक्षकों का दायित्व केवल विद्यालय तक सीमित न होकर अत्यन्त विस्तृत है। अतः शिक्षकों के लिये विशिष्ट प्रशिक्षण अति आवश्यक है।

प्रशिक्षण के द्वारा शिक्षकों की योग्यता तथा कुशलता में वृद्धि की जाती है। शिक्षण भी अन्य व्यवसायों जैसे डाक्टर, इंजीनियरिंग आदि की तरह एक प्रतिष्ठित व्यवसाय है। अतः इसके लिये भी वैसी ही प्रशिक्षण व्यवस्था होनी चाहिये, जैसी कि अन्य व्यवसायों में है। प्रशिक्षण के द्वारा शिक्षकों की कार्य क्षमता तथा कार्य कुशलता में आशातीत वृद्धि की जा सकती है। प्रशिक्षण में शिक्षकों को नयी तकनीकी, नयी शिक्षण विधियों, नये पाठ्यक्रम आदि से अवगत कराया जाना चाहिए ताकि वे अपने छात्रों को बेहतर प्रकार से नया ज्ञान प्रदान कर सकें।

वर्तमान में जब हम 21वीं सदी की ओर अग्रसर हैं विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति हुई है। जिसके परिणामस्वरूप सभी क्षेत्रों में नयी तकनीक का विकास किया गया है। यह विकास शैक्षिक जगत में भी हुआ है। शैक्षिक जगत में नयी गतिविधियों को भी विज्ञान के साथ – साथ अपनाया जा रहा है। इन नवीन गतिविधियों तथा विज्ञान के कारण शिक्षा जगत में जो परिवर्तन आया है उसके बारे में सबसे पहले शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाना चाहिये। उन्हें अपने विषय तथा उससे सम्बन्धित नवीन पाठ्यक्रम, शिक्षण विधियों आदि के बारे में पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। परम्परागत पाठ्यक्रम में कई दशकों से किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। माध्यमिक स्तर का शिक्षक प्रशिक्षण आज भी वैसा ही है जैसा कि ब्रिटिश काल में था। इस प्रकार का प्रशिक्षण उस समय व परिस्थितियों को देखते हुये उपयुक्त था परन्तु आज वही प्रशिक्षण अव्यवहारिक लगता है। आज सामाजिक मूल्यों, विचारधाराओं, संस्कृति आदि में भी परिवर्तन आ गया है। अतः सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि शिक्षा जगत में भी परिवर्तन किया जाये। शैक्षिक परिवर्तन तभी सम्भव होगा जब हम शिक्षक प्रशिक्षण में परिवर्तन करेंगे।

प्रशिक्षण में परिवर्तन से तात्पर्य यह नहीं कि प्रशिक्षण का सम्पूर्ण प्रारूप ही बदल दिया जाये बल्कि इससे यह तात्पर्य है कि प्रशिक्षण में केवल उन्हीं पक्षों को बदलना होगा, जो कि आज के परिवेश में अनुपयुक्त हैं तथा प्रशिक्षण के उपयुक्त पक्षों को वैसा ही रखना उचित होगा।

प्रस्तुत शोध में यही अध्ययन किया जायेगा कि यदि नयी गतिविधियों के अनुरूप प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में परिवर्तन किया जाये तो कौन – कौन सी समस्या सामने आ सकती हैं? तथा परम्परागत शिक्षण – प्रशिक्षण की कौन – कौन सी समस्यायें हैं?इन समस्याओं को कैसे दूर किया जाये?

प्रचलित शिक्षक प्रशिक्षण में सम्पूर्ण प्रकिया अत्यन्त पुरानी तथा विपरीत सी है। इसमें प्रवेश पाठ्यक्रम तथा मूल्यांकन आदि में किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। प्रवेश की प्रकिया पुरानी तथा उचित चयन में असहायक होती है। स्नातक की उपाधि के साथ अनेक प्रमाण पत्रों की सहायता से अतिरिक्त अंक पाकर कभी – कभी अयोग्य छात्र भी प्रशिक्षण हेतु प्रवेश पा लेते हैं। अतः प्रशिक्षण की गुणात्मकता प्रभावित होती है। पिछले कुछ वर्षों में प्रवेश प्रकिया में थोड़ा परिवर्तन करके चयन परीक्षा ली गई उसके अंकों की कम संख्या के अनुसार ही छात्र प्रशिक्षण में प्रवेश पा रहे हैं। लेकिन मात्र लिखित परीक्षा से कैसे उचित चयन सम्भव होगा इससे भी छात्रों की योग्यता का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही प्रमाण पत्रों पर दिये जाने वाले अतिरिक्त अंकों का भी कोई विशेष औचित्य नहीं है। इनके द्वारा योग्य छात्र कम प्रवेश पाते हैं जबकि अयोग्यों को अधिक मौका मिलता है।

प्रशिक्षण में सबसे अधिक महत्व पाठ्यक्रम का होता है प्रचलित प्रशिक्षण में पाठ्यक्रम में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता है, जबकि शैक्षिक जगत में काफी परिवर्तन आ चुका है। शिक्षा के क्षेत्र में नयी तकनीक, नयी विकसित शिक्षण विधियों आदि के आने से सम्पूर्ण पाठ्यक्रम ही बदल गया परन्तु उनके अनुकूल प्रशिक्षण में परिवर्तन न करने से शिक्षक अपने शिक्षण कार्य को भली भांति करने में असमर्थ पाता है। माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम में दृश्य श्रव्य सामग्री कम्प्यूटर आदि का पदार्पण हो चुका है, परन्तु पाठ्यक्रम में परिवर्तन नहीं हुआ है।

प्रशिक्षण में सबसे अधिक महत्व शिक्षण अभ्यास का होता है। परन्तु प्रशिक्षण में अभ्यास अवधि बहुत कम रखी जाती है बाकी पूरे वर्ष केवल पुस्तकीय ज्ञान ही प्रदान किया जाता है। आज के पाठ्यक्रम के अनुसार अभ्यास अवधि को बढ़ाना अति आवश्यक है। इसी प्रकार शिक्षण विधियों में भी परिवर्तन अति आवश्यक है। मात्र श्यामपट्ट का प्रयोग करने से व्यवहारिक शिक्षण नहीं हो पाता है। आधुनिक शिक्षा में 'कम्प्यूटर शिक्षा प्रणाली' पर विशेष बल दिया जा रहा है। अतः कम्प्यूटर की सहायता से भी कुछ पक्षों का प्रशिक्षण दिया जाना आवश्यक है, जैसा कि यू. के. में है, वहां प्रशिक्षण को

नयी गतिविधियों के अनुरूप परिवर्तित करके उसमें सर्वाधिक महत्व अभ्यास शिक्षण को महत्व दिया जाता है। वहां पर पहले दो सप्ताह का प्रशिक्षण छात्रों का अवलोकन करके उन्हें समझने हेतु दिया जाता है। तदुपरान्त पांच सप्ताह का प्रशिक्षण शिक्षण को व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिये प्रदान किया जाता है, फिर छात्रों को पांच सप्ताह का विशेष प्रशिक्षण शिक्षण अभ्यास का दिया जाता है। इस प्रकार वर्ष में तीन महीने का शिक्षण अभ्यास होता जबकि हमारे यहां मात्र 20 दिनों का। अतः इसमें परिवर्तन वांछनीय है।

शिक्षक प्रशिक्षण में योग्यता का मूल्यांकन करने का विधि अधिक विश्वसनीय नहीं है। इसमें मूल्यांकन तो मात्र औपचारिकतायें पूर्ण करने के लिये किया जाता है। अभ्यास केन्द्रों की अव्यवस्था से शिक्षण अभ्यास ठीक से नहीं हो पाता उसी प्रकार मात्र तीस मिनट की कक्षा में ही छात्र की शिक्षण योग्यता का मूल्यांकन कर लिया जाता है जो कि सर्वथा अनुचित सा प्रतीत होता है। इसी के साथ ही सैद्धान्तिक ज्ञान का मूल्यांकन भी अत्यन्त परम्परागत विधि से होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे यहां प्रचलित प्रशिक्षण अत्यन्त पुराना तथा अव्यवहारिक है। अतः आज शिक्षा में परिवर्तन करने से पहले यह आवश्यक है कि शिक्षक प्रशिक्षण में अनुकूल परिवर्तन किया जाये। इसके लिये पहले यह आवश्यक है कि शिक्षक प्रशिक्षण में अनुकूल परिवर्तन किया जाये। इसके लिये हमें पहले यह ज्ञात करना होगा कि परम्परागत प्रशिक्षण की कौन – कौन सी समस्यायें हैं। अतः प्रस्तुत शोध में यह अध्ययन किया गया है कि शिक्षण प्रशिक्षण की समस्यायें कौन – कौन सी हैं तथा नये आयामों का क्रियान्वयन करने के लिये उन समस्याओं को कैसे दूर किया जाय।

2.0 समस्या कथन : 'परम्परागत शिक्षक प्रशिक्षण की समस्यायें एवं समाधान।

3.0 अध्ययन का सीमांकन : प्रस्तुत शोध में अध्ययन को सीमांकित करके केवल माध्यमिक स्तर के शिक्षक प्रशिक्षण को अध्ययन हेतु लिया गया है। इसमें केवल झांसी मण्डल के बी. एड. पाठ्यक्रम की समस्याओं का अध्ययन किया गया है। इस शोध में केवल झांसी मण्डल के शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों का ही अध्ययन किया गया है।

4.0 अध्ययन के उद्देश्य

4.1 शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की प्रमुख समस्याओं को रेखांकित करना।

4.2 शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम की प्रमुख समस्याओं का सम्भावित समाधान प्रस्तुत करना।

5.0 शोध तंत्र

5.1 शोध प्रकार – प्रस्तुत शोध वर्णानात्मक प्रकार का है।

5.2 शोध विधि – प्रस्तुत शोध में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है।

5.3 समष्टि – झांसी मण्डल के समस्त शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों के बी. एड. पाठ्यक्रम के समस्त छात्र।

5.4 प्रतिदर्श चयन विधि – सोद्देश्य एवं आकस्मिक प्रतिदर्श चयन विधि द्वारा क्रमशः प्रथम चरण में पांच शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों– (1. बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय परिसर, झांसी 2. बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झांसी 3. स्व. रामस्वरूप यादव महाविद्यालय, पूंछ (झांसी) 4. गांधी महाविद्यालय, उरई (जालौन) 5. श्री गुरू हरकिशन डिग्री कालेज, झांसी) का तथा दूसरे में प्रत्येक महाविद्यालय से 50 छात्रों का अर्थात कुल 250 छात्रों का अध्ययन हेतु चयन किया गया।

5.5 शोध उपकरण – स्वनिर्मित अभिमतावली का प्रयोग किया गया।

5.6 प्रयुक्त सांख्यिकी विधि – काई वर्ग परीक्षण का प्रयोग किया गया।

6.0 अध्ययन के परिणाम, निष्कर्ष एवं समस्या के सम्भावित समाधान

शोधकर्ता की समस्या थी कि परम्परागत शिक्षण प्रशिक्षण में भिन्न – भिन्न प्रकार की समस्यायें हैं और अभी तक इन समस्याओं का निराकरण नहीं हुआ है। अध्ययन के पश्चात यह पाया गया कि शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में प्रमुख समस्यायें निम्न क्षेत्रों में विद्यमान हैं –

1. प्रवेश की समस्यायें : शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश की समस्या सदैव एक समस्या बनी रही है। विशेषतया शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में प्रवेश काफी समस्याग्रस्त है। अध्ययन के परिणामों तथा प्रश्नावली से स्पष्ट है कि प्रवेश की समस्या सत्य है अधिकतर शिक्षकों ने माना कि राजनीतिक प्रभाव प्रवेश पर पड़ता है। इसी प्रकार प्रवेश की सम्पूर्ण प्रकिया ही दोषपूर्ण है। छात्रों को प्रवेश अंकों के आधार पर दिया जाता है जो कि त्रुटिपूर्ण है। इसके द्वारा उनके व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं हो पाता है तथा अंकों में भी विभिन्न प्रकार के प्रमाण पत्रों की सहायता से छात्र मेरिट में स्थान पा लेते हैं।

वर्ष 1987–88 में प्रथम बार प्रवेश परीक्षा का आयोजन किया गया जो कि अत्यधिक विश्वसनीय नहीं है। इसके द्वारा एक तो उनकी उपाधि जो कि उन्हें प्राप्त है उसी की जांच होती है तथा शिक्षण के लिये आवश्यक वाक योग्यता का पता नहीं लग पाता है। दूसरे इस प्रकिया से प्रवेश में भी अत्यधिक समय लग जाता है जिसके परिणामस्वरूप पाठ्यक्रम प्रभावित होता है। अतः शिक्षक प्रशिक्षण में प्रवेश प्रकिया सबसे ज्यादा समस्याग्रस्त है।

समाधान : प्रवेश प्रकिया को अधिक गुणात्मक तथा विश्वसनीय बनाने के लिये आवश्यक है कि प्रवेश साक्षात्कार के आधार पर दिया जाये। साक्षात्कार से छात्र की वाकपटुता तथा शिक्षण अभियोग्यता के बारे में पता चल सकता है। शिक्षण में सबसे अधिक चिन्तन, मनन तथा शीघ्र उचित निर्णय की योग्यता होना अति आवश्यक है। इसका पता किसी छात्र का साक्षात्कार करके ही चल सकता है न कि लिखित परीक्षा या अंकतालिका के माध्यम से। अतः शिक्षक प्रशिक्षण में प्रवेश साक्षात्कार के आधार पर होने चाहिये।

प्रवेश प्रकिया में विलम्ब होने से प्रशिक्षण पाठ्यक्रम प्रभावित होता है। अतः प्रवेश, साक्षात्कार आदि की प्रकिया प्रवेश से 5–6 महीने पहले पूर्ण हो जानी चाहिये तभी अन्य शिक्षा सत्रों की भांति प्रशिक्षण कार्यक्रम का सत्र भी नियमित तथा पर्याप्त होगा वरना जब प्रवेश ही दिसम्बर में होगा तो सत्र मात्र 3 महीने का हो जाने के कारण मात्र औपचारिकताये ही पूर्ण करवायी जाती हैं। प्रशिक्षण वास्तविक शिक्षण से बिल्कुल भिन्न होता है। अतः प्रवेश में अत्यधिक विलम्ब नहीं होना चाहिये।

प्रवेश दो रेफ्रीज से रिपोर्ट मंगवा लेनी चाहिये उनमे से एक स्कूल शिक्षक की हो तथा दूसरी किसी ऐसे व्यक्ति की जो कि छात्र को अच्छी तरह जानता हो वे दोनों ही बता सकते हैं कि उस छात्र में शिक्षण अभियोग्यता कितनी है तथा वह शिक्षण में कितना सक्षम होगा। अतः इन बातों पर ध्यान रखकर ही प्रवेश होना चाहिये।

2. पाठ्यक्रम की समस्यायें– सम्पूर्ण शिक्षा प्रकिया का मुख्य आधार पाठ्यक्रम होता है जैसा पाठ्यक्रम होगा वैसी ही शिक्षा छात्रों को प्रदान की जायेगी। अतः पाठ्यक्रम अत्यन्त व्यवहारिक तथा ज्ञानवर्द्धक होना चाहिये। शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में पाठ्यक्रम

सामग्री अत्यन्त समस्यापूर्ण है। शोधकर्ता ने अध्ययन के परिणामों से ज्ञात किया कि प्रशिक्षण पाठ्यक्रम छात्रों की शिक्षण योग्यता को वांछनीय रूप में विकसित करने में सर्वथा असमर्थ रहता है तथा वह वास्तविकता कक्षा शिक्षण से पूर्णतया प्रतिकूल है क्योंकि इसमें प्रशिक्षण की व्यवहारिक उपयोगिता को कम महत्व दिया जाता है। प्रशिक्षण में सबसे अधिक समस्या अल्प अवधि की है क्योंकि प्रशिक्षण कार्यक्रम मुश्किल से 4 महीने का होता है। उसी दौरान सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है जिसमें से अभ्यास अवधि मात्र 20 दिन या इससे कम होती है और छात्र भी अभ्यास मात्र औपचारिकता समझकर पूर्ण करते हैं। प्रशिक्षण केन्द्रों की अव्यवस्था भी प्रशिक्षण कार्यक्रम प्रभावित करती है और केन्द्रों पर प्रायोगिक विषयों का प्रशिक्षण नहीं हो पाता है। सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह है कि प्रशिक्षण में पुस्तकीय ज्ञान को शिक्षण अभ्यास की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। सभी संस्थाओं में प्रशिक्षण पाठ्य योजना में असमानता पाई जाती है जिससे प्रशिक्षण का मूल्यांकन उचित रूप में नहीं हो पाता है।

प्रशिक्षण कार्यक्रम पर आर्थिक कारणों का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। आर्थिक कमी से प्रयोगशाला, पुस्तकालय, उपकरण तथा आधुनिक साहित्य आदि का पर्याप्त प्रबन्ध नहीं हो पाता है। छात्रों को प्रशिक्षण के लिये किसी प्रकार की छात्रवृत्ति प्रदान न करने के कारण छात्र भी अभ्यास के लिये दृश्य श्रृव्य सामग्री का प्रयोग नहीं कर पाते हैं। प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में ऐसी कोई सुविधा नहीं है कि परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित किया जा सके। इस प्रकार प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में अनेक समस्यायें विद्यमान है, जिनका निराकरण किया जाना अति आवश्यक है।

समाधान – शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम को अत्यधिक प्रभावी बनाने के लिये उसके पाठ्यक्रम को परिवर्तित करना अत्यन्त आवश्यक है। सर्वप्रथम सैद्धान्तिक विषयों में शिक्षा मनोविज्ञान, शिक्षा का इतिहास, विशिष्ट शिक्षा शास्त्र आदि को वैकल्पिक विषयों में रखें तथा शिक्षण अभ्यास के लिये दो विषय लेना अनिवार्य हो। शिक्षण अभ्यास केलिये पर्याप्त सुविधायें भी प्रदान की जानी चाहिये ताकि प्रशिक्षण व्यवहारिक बन सके जैसा कि माध्यमिक स्तर पर होता है। अन्य सैद्धान्तिक विषयों की विशेष आवश्यकता नहीं है। मुख्यतया सारा ध्यान शिक्षण अभ्यास पर दिया जाना चाहिये। जो कि इस कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य है।

प्रशिक्षण कार्यक्रम में शिक्षण अभ्यास अवधि बढ़ानी चाहिये ताकि छात्र वास्तविक शिक्षण का प्रशिक्षण ले सकें। अवधि के बढ़ने छात्रों की कक्षा की विभिन्न प्रकार की समस्याओं तथा परिस्थितियों के बारे में पूर्ण ज्ञान हो सकेगा। नये आयामों में भी अविध बढ़ाने पर विशेष महत्व दिया गया है। उसमें प्रशिक्षण अभ्यास की अवधि को महत्व देते हुये बताया गया कि जैसा यू. के. में है वैसा ही प्रशिक्षण पाठ्यक्रम होना चाहिये। वहां पर शिक्षण अभ्यास मात्र कक्षा शिक्षण का न होकर विभिन्न प्रकार के भागों में बांटकर अनुभव तथा अवलोकन द्वारा भी प्रदान किया जाता है जो कि ज्यादातर ज्ञानवर्द्धक तथा उपयोगी होगा। अतः प्रशिक्षण कार्यक्रम में पाठ्यक्रम को परिवर्तित करके उसके व्यवहारिक बनाने के लिये उसके विषयों को बदलना होगा तथा अभ्यास अवधि में परिवर्तन करना होगा।

3. मूल्यांकन की समस्यायें – शिक्षण प्रशिक्षण में मूल्यांकन अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है इसी मूल्यांकन के आधार पर एक छात्र पर एक शिक्षण क्षेत्र में आने के लिये प्रमाणित किया जाता है। अतः यह अति आवश्यक है कि मूल्यांकन अत्यधिक विश्वसनीय तथा वैध हो। इसी के के द्वारा छात्र की अभियोग्यता तथा कार्य कुशलता का सही – सही मापन किया जाता है। आज कल प्रचलित प्रशिक्षण कार्यक्रम में विश्वसनीयता का अभाव पाया जाता है। मूल्यांकन उचित प्रकार से नहीं होता है प्रशिक्षण कार्यक्रम में मूल्यांकन में सैद्धान्तिक विषयों को अत्यधिक महत्व प्रदान किये जाने के कारण उन्हीं के मूल्यांकन पर विशेश बल दिया जाता है और शिक्षण अभ्यास को नगण्य माना जाता है और उसके मूल्यांकन की प्रक्रिया भी अत्यन्त औपचारिक होती है। मूल्यांकन प्रक्रिया में मात्र 2–3 मिनट में छात्र की शिक्षण योग्यता को देखकर उसका मूल्यांकन कैसे सम्भव होगा। अतः यह आवश्यक है कि मूल्यांकन प्रक्रिया में नये आयामों में क्रियान्वयन के साथ ही परिवर्तन वांछनीय है। शोधकर्ता ने अध्ययन के पश्चात यह पाया कि सम्पूर्ण मूल्यांकन प्रक्रिया ही त्रुटिपूर्ण है जो कि आज पूर्णतया गलत है। मूल्यांकन प्रक्रिया में राजनैतिक प्रभाव के कारण पक्षपात भी पाया जाताहै। जिससे कि योग्य छात्रों की योग्यता प्रभावित होती है। इसी प्रकार शिक्षकों की नियुक्ति भी राजनैतिक हस्तक्षेप से प्रभावित रहती है। जिसके फलस्वरूप अयोग्य शिक्षक इस क्षेत्र में आने के कारण वे मूल्यांकन प्रक्रिया भी पर्याप्त रूप में पूर्ण नहीं कर पाते हैं। अतः शिक्षक नियुक्ति का प्रभाव सम्पूर्ण शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम पर पड़ता है। अतः नियुक्ति में पक्षपात न होकर परिवर्तन करना चाहिये।

समाधान – मूल्यांकन प्रक्रिया को अत्यधिक विश्वसनीय बनाने के लिये आवश्यक है कि शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रम में होने वाले मूल्यांकन में शिक्षण अभ्यास के मूल्यांकन पर विशेष महत्व दिया जाना चाहिये। इसके लिये शिक्षण अभ्यास का मूल्यांकन, अवलोकन वर्क तथा शिक्षण आदि के द्वारा किया जाना चाहिये। इसमें से अवलोकन शिक्षण अभ्यास के दौरान पूर्ण किया जाना चाहिये। उसी के आधार पर छात्र की वाक योग्यता तथा तर्क वितर्क क्षमता का मूल्यांकन करना चाहिये। प्रशिक्षण कार्यक्रम में सैद्धान्तिक विषयों का मूल्यांकन भी शिक्षण पर आधारित होना चाहिये। अर्थात प्रश्नपत्र का प्रारूप ऐसा हो जिसमें से अधिकृत प्रश्न शिक्षण प्रक्रिया से सम्बन्धित हो। शिक्षकों की नियुक्ति कालेज प्रबन्धकों द्वारा की जानी चाहिये ताकि वे योग्यतानुसार सही शिक्षक का चयन कर सकें और शिक्षक नियुक्ति को राजनैतिक पक्षपात से न करके योग्यतानुसार करना चाहिये।

इस प्रकार नयी तकनीक विकसित होने से यह अत्यन्त आवश्यक हो गया कि शिक्षा में परिवर्तन किया जाये उसी के आधार पर शिक्षक प्रशिक्षण को भी परिवर्तित करके उसे माध्यमित शिक्षा के अनुरूप बनाया जाना चाहिये। भारत में नयी शिक्षा में परिवर्तन के साथ ही शिक्षक – प्रशिक्षण कार्यक्रम में परिवर्तन की आवश्यकता है।

सन्दर्भ–

1. Best, J. W. (1977), Research in Education, New Delhi : Prentic Hall of India.
2. Jangira, N. K. (1979) Teacher Training and Teacher Effectiveness
3. Myron, L. (1969), Education as a Profession
4. राय, पारसनाथ व भटनागर, चांद (1974), अनुसंधान परिचय
5. पाठक, पी. डी. (1977), भारतीय शिक्षा का इतिहास

प्रवक्ता, शिक्षा संस्थान,
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झांसी (उ. प्र.)–284 128

दूरदर्शन द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में दूरस्थ शिक्षा

सुधाकर पाण्डेय*

मनुष्य को घर बैठे ही शिक्षा प्रदान हो जाये, उसे विद्यालय न जाना पड़े– इस तथ्य की खोजबीन व प्रयत्न का परिणाम ही दूरस्थ शिक्षा है। कहा भी गया है कि आवश्यकता अनुसंधान की जननी है। विगत वर्षो में दूरस्थ शिक्षा की कल्पना भी नहीं की थी, क्योंकि जिनको ज्ञान की पिपासा थी उन्हें पढाने के लिए अध्यापक उपलब्ध थे। प्रत्येक व्यक्ति उच्चशिक्षा अध्ययन में रूचि भी नहीं लेता था। लेकिन वर्तमान में परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गई हैं। 21 वीं सदी में कदम बढ़ गया है। समय तीव्र गति से दौड़ रहा है। जीवन में प्रतियोगिता कठोर हो गयी है। प्रत्येक देश अपनी जनसंख्या को साक्षर बनाने की अवश्यकता अनुभव कर रहा है। प्रत्येक स्त्री–पुरूष, अपनी जीवन शैली तथा रहन–सहन के स्तर में उन्नति चाहता है। अनवरत शिक्षा,शिक्षा व्यवस्था का एक अंग बन रहा है। अतः इन कारणो से यह अनुभव किया जा रहा है कि अब तक जो औपचारिक शिक्षा प्रचलित है वह आगामी शताब्दी की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है।

दूरस्थ शिक्षा के अन्तर्गत अनौपचारिक माध्यमों द्वारा शिक्षा ग्रहण कराता है। इसमें अध्यापक की शारीरिक उपस्थिति आवश्यक नहीं है। वह अपने विचारों को पुस्तकों द्वारा तथा सम्प्रेषण माध्यमों से छात्र तक पहुँचाता है।

स्वान बोराह के अनुसार–यह शिक्षण की एक विधि है, जिसमें अध्यापक का यह उत्तदायित्व होता है, कि वह उन छात्रों को जिन्हें शाब्दिक रूप में अनुदेशन प्राप्त नहीं है, जो सुदूर स्थानों पर व्यक्तिगत परीस्थितियों के कारण रह रहे है, अध्ययन करना चाहते है, उन्हें ज्ञान व कौशल प्राप्त करायें।''

अतः दूरस्थ शिक्षा, शिक्षण की एक व्यवस्था है। जिसमें अध्यापक और छात्र के बीच आमने–सामने शिक्षण प्रक्रिया सम्पन्न न होकर पत्राचार व छपी हुई पुस्तक सामग्री के माध्यम से तथा रेडियों व दूरदर्शन के पुनर्वलन से सम्पन्न की जाती है।

दूरदर्शन के कार्यक्रमों में शिक्षा, सूचना और मनोरंजन के विषयों पर बराबर से समिश्रण रहता है। शैक्षिक कार्यक्रम विभिन्न स्तरों के होते हैं। आधारभूत स्वास्थ शिक्षा से प्रारम्भ होकर विश्वविद्यालय छात्रों के लिए।

ये कार्यक्रम दूसरी क्षेत्रीय भाषाओं में उस क्षेत्र के केन्द्र से प्रसारित किये जा रहे है। ये कार्यक्रम औपचारिक और अनौपचारिक दोनो ही प्रकार की शिक्षा को समेटने का प्रयास करते दिखायी देते हैं। इन कार्यक्रमों का साफ्टवेयर शिक्षा तकनीक पर हर राज्य की इकाइयां काम कर रही थी।

छोटे गॉवों और नगरों में स्तरीय शिक्षा पहुँचाने के लिए यूजीसी के पास एक राष्ट्रीय स्तर का पढाई कक्ष है।

राष्ट्रीय कार्यक्रमों में हिन्दी और अंग्रेजी के सामाचार प्रसारित किये जाते है। सुबह दोपहर, सायं, एक साप्ताहिक समाचार पत्रिका संस्कृत में भी शुरू की गयी। मेट्रो नेटवर्क पर उर्दू में रोजना का न्यूज बुलेटीन भी शुरू किया गया। सभी केन्द्रों से शाम को क्षेत्रीय भाषा में समाचार प्रसारित कियें जाते है। कुछ केन्द्र उर्दू समाचार भी क्षेत्रीय भाषा में देते है।

ताजा भाषाओं पर आधारित कई कार्यक्रम पेश किये जाते है, जिनमें गहरी चर्चा व विचारों का आदान–प्रदान होता है। महिलाओं बच्चों और युवाओं के लिए अलग–अलग तरह के कार्यक्रम पेश किये जाते है।

अतः ग्रामीण और किसानों को संचार के माध्यम से सूचनाएं प्राप्त कराने के विभिन्न कार्यक्रम हैं जो ग्रामीणों को उनके कार्यों में सुगमता लाने एवं उन्नति में सहायक सिद्ध हो रहे है।

इन कार्यक्रमों में किसान काल सेन्टर की शुरूआत 21 जनवरी 2004 को की गयी। इसका मूल उद्देश्य कृषि से जुड़ी किसी भी समस्या का हल किसानों को बताना है। गावों में ई चौपाल की स्थापना हो रही है। ई चौपाल के माध्यम से गॉवों में ही किसानों को कृषि की जानकारी, बाजार की मांग, विपणन एवं कृषि सम्बन्धी जानकारी उपलब्ध कराता है। साथ ही चौपाल केन्द्रों पर किसानों को कृषि की नई प्रौधोगिकी अपनाने की जानकारी, फसलों के उत्पादन बढाने की जानकारी, नये उन्नतशील किस्म के बीज, उर्वरकों, कीटनाशक दवाओं की जानकारी फसलों के रोग एवं बीमारियों के निदान के उपाय की जानकारी, बाजार मूल्य, बाजार मांग आदि की जानकारी प्रदान कराता है। जिससे किसानों को एक ही जगह से उनकी बाजार की बहुत सारी जानकारियां प्राप्त हो जाती हैं। इसके अलावा पशुधन सम्बन्धी जानकारी नस्ल सुधार, दुग्ध उत्पादन बढ़ाने, जल संरक्षण,स्वयं सहायता समूह के विकास के लिए भी कार्य कर रहे हैं।

भारत सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रो में ज्ञान केन्द्र स्थापित किये हैं, जो गॉवों और शहरों के बीच सूचना प्राप्त करने के लिए ब्रिज का कार्य कर रहे हैं। इन केन्द्रों पर ग्रामीण तथा किसानों की कृषि सम्बन्धी नयी जानकारी, बाजार भाव, कृषि उपज के विपणन की जानकारी बाजार की मांग शिक्षा सूचना एवं संचार आदि की जानकारियां सुलभ हो रही है। इसके द्वारा ग्रामीण क्षेत्र की सरंचना बदल रही है। वर्तमान समय में दूरदर्शन द्वारा कल्याणी कार्यक्रम का प्रसारण सायं 6:30 से 7:00 बजे तक किया जाता है। जिसके कारण सुरक्षित प्रसव, गाँव की साफ–सफाई की व्यवस्था की जानकारी का शिक्षण एवं प्रशिक्षण दिया जाता है। एड्स सम्बन्धी जानकारी, गाँवों में नियोजन द्वारा परिवर्तन आदि कार्यक्रमों को प्रसारित किया जाता है। ज्ञानवाणी कार्यक्रम द्वारा इग्नू की कक्षाएं शुरू की जाती है। इससे विद्यार्थी को घर पर शिक्षा मिलती–रहती है। कल्याणी कार्यक्रम मुख्य रूप से महिलाओं के लिए प्रसारित किया जाता है। जिसमें स्वास्थ्य,शिक्षा एवं जागरूकता के विषय में विद्वानों के द्वारा जानकारियां दी जाती हैं।

दूरदर्शन द्वारा प्रसारित कार्यक्रमों को देखने से ग्रामीण महिलायें एवं पुरूष जागरूक हो रही हैं। उन्हे पूरी तरह से अभ्यास होने लगा है कि यह साधन केवल मनोरंजन के लिए नहीं है बल्कि इनका उपयोग रचनात्मक ज्ञानवर्द्धन जानकारी देना भी है। इसके प्रभाव से ग्रामीणों की मानसिकता में परिवर्तन आया है।

दूरस्थ चिकित्सा के माध्यम से महानगरों में स्थित अस्पतालों को रोगी से सम्बन्धित आंकड़े सम्प्रेषित करके तथा विडियों परामर्श द्वारा ग्रामीण और दूरवर्ती क्षेत्रों में उच्च गुणवत्ता वाली चिकित्सा सुविधा प्रदान की जा रही है। दूरस्थ शिक्षा के माध्यम से शहरी स्कूल और कालेजों में विद्यमान उच्च गुणवता

वाली शिक्षा देश के दूरस्थ हिस्सों विशेष रूप से गावों तक पहुँच रही है। आज स्पष्ट है कि दूरवर्ती क्षेत्रों का किसान किस प्रकार अपनी चौपल पर बैठकर सारी दुनिया की जानकारी प्राप्त कर रहा है। सुदुर गाँव में बैढा व्यक्ति भी पलक झपकते सारी दुनिया से सम्पर्क स्थापित कर रहा है। आज कृषि स्वास्थ्य, शिक्षा, इंजिनियरिंग, चिकित्सा, प्रशासन, सूरक्षा, यातायात, ग्रामीण विकास आदि में दूरदर्शन संचार का महत्वपूर्ण भूमिका है।

सन्दर्भ–
1. शैक्षिक तकनीकी के तत्व एवं प्रबन्धन
2. फिल्म एवं इलेक्ट्रनिक मीडिया
3. कुरूक्षेत्र (पत्रिका)

शोध छात्र
पत्रकारिता एवं जन संचार
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद
e-mail Id : sudhakarpandey46@yahoo.in

परमिता

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

'परमिता' के सदस्य बनें

कृपया निम्नलिखित फार्म में मांगे गये विवरण भरकर इस पूरे पृष्ठ को काट लें और तत्पश्चात् इस फार्म को 'परमिता' के पक्ष में देय उपयुक्त एकाउंट पेई चेक / ड्राफ्ट / मनीआर्डर के साथ निम्नलिखित पते पर भिजवाने का कष्ट करें–

'परमिता' त्रैमासिक शोध-पत्रिका

N-1/61 R-1, शशिनगर कालोनी, सामनेघाट रोड, नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ0प्र0) 221005

दूरभाष– 09838077923 • ईमेल : parmita.com@gmail.com

सदस्यता विवरण

• मैं निम्न प्रकार की सदस्यता ग्रहण करना चाहता हूँ:

निशान लगायें	सदस्यता का प्रकार	देय राशि
☐	संरक्षक सदस्य	10,000रु.
☐	आजीवन सदस्य (व्यक्तिगत)	1000रु.
☐	आजीवन सदस्य (संस्थागत)	2000रु.

• कृपया वाराणसी से बाहर के चेकों के लिए 30रु0 अतिरिक्त जोड़ें।

अन्य विवरण कृपया नीचे दिये गये फार्म में भरें

चेक / ड्राफ्ट का विवरण इस प्रकार है :

चेक / ड्राफ्ट नं0..... राशि.....

तिथि ..... बैंक .....

अन्य विवरण इस प्रकार है :

नाम :.....

व्यवसाय (आजीविका का साधन) :.....

पत्रिका मंगवाने का पता (पिनकोड सहित) :.....

.....

..... दूरभाष : .....

ईमेल (अंग्रेजी के कैपिटल लेटर में) :.....

शंकराचार्य का जगत विचार

अनुराधा पाठक

परमसत् का अनुसंधान करने के लिये हमे जगत् और जीव की परीक्षा करना अनिवार्य होता है। शंकराचार्य के दर्शन में विश्व की व्याख्या कुछ इस प्रकार हुई है कि बहुधा आलोचक उनके जगत् विचार पर यह आक्षेप लगाते है कि शंकर के दर्शन में जगत् का निषेध किया गया है, जगत् असत्य है, क्या शंकर के दर्शन में विश्व पूर्णतः असत्य है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व उनके जगत् विचार पर प्रकाश डालना अपेक्षित होगा।

जगत् का स्वरूप : शंकराचार्य के तत्त्वमीमांसा में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, शेष सभी वस्तुये ईश्वर, जीव, जगत प्रपंच है।

"ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"।

ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म से अभिन्न है।

शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में जगत की स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं है। जगत् अपनी सत्ता के लिये पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है। मायायुक्त ईश्वर इस जगत् का कारण है। जगत् माया का विस्तार है। अव्यक्त माया का व्यक्त रूप यह जगत् है। माया के कारण ही निर्गुण एवं भेदरहित ब्रह्म प्रपंचात्मक जगत् के रूप में आभासित होता है। शंकर के अनुसार जगत् मायारूप है, यह यथार्थ नहीं है। शंकराचार्य स्पष्ट करते है कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। वस्तुतः तात्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत् एक है, जिसमें प्रथम सत् है और द्वितीय आभासवान् है। ब्रह्म जगत का कारण लाक्षणिक अर्थ में है। ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् उसका आभास है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म की एकता पर पर्दा डालकर उसे छिपाती है और विक्षेप शक्ति से ब्रह्म के स्थान पर नाम रूपात्मक जगत् को आरोपित कर देती है। जीव माया या अविद्या से प्रभावित होकर इसी प्रपंचात्मक जगत् को सत्य मानने लगता है।

स्वप्न एवं भ्रम से जगत् की तुलना करके शंकर जगत् के मित्यात्व को सिद्ध करते है। उनकी दृष्टि में ब्रह्म की एकमात्र सत् है और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण शुक्ति–रजत के समान ब्रह्म–भिन्न सब कुछ मिथ्या है। भ्रमवश अंधेरे में पड़े रस्सी को सर्प समझने की भांति जीव को अविद्या के कारण ब्रह्म के स्थान पर जगत का अनुभव होता है। अर्थात् जगत् स्वरूप से ही ब्रह्म में अध्यस्त है।

शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। ब्रह्म सत्, एक और अपरिवर्तनशील है जबकि जगत् परिवर्तनशील और नानारूपात्मक है। अतः ब्रह्म का जगत् में रूपान्तरण वास्तविक नहीं अपितु प्रतीतिमात्र है। अतः शंकर विवर्तवाद के आधार पर जगत् को मिथ्या सिद्ध करते हैं।

अद्वैत वेदान्त सतृ और असत् की कसौटी पर परखकर भी जगत् को मिथ्या सिद्ध करता है। सत् वह है जो त्रिकालाबाधित है। पुनः सत् वह है जो अर्न्तविरोधों से रहित है। इस दृष्टि से एकमात्र परमब्रह्म ही सत् है। जबकि जगत् कालान्तर में ब्रह्माज्ञान से बाधित होता है। जगत् विरोधों से परिपूर्ण है। अतः जगत् सत् नहीं है। पुनः जगत् असत् भी नहीं है। असत् वह है जो कभी भी अनुभव में नहीं आता है। जैसे– बन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम। किन्तु जगत् का अनुभव होता है। जगत् को सत् और असत दोनों नहीं कहा जा सकता है, इसमें आत्मविरोध है। इसप्रकार जगत् सदसद्विलक्षण होने के कारण अनिवर्चनीय है, मिथ्या है।

इसप्रकार शंकराचार्य जगन्मिथ्यात्व की स्थापना करके अद्वैतवाद को स्थापित करते हैं।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या शंकर ने जगत् का पूर्णतः निषेध किया है?क्या जगत् पूर्णतः मिथ्या है। आलोचकों ने उनके जगत् विचार पर यह आक्षेप लगाया कि शंकर जगत् का निषेध करते है, उन्होंने जगत् की व्याख्या करने के बजाय उसकी समस्या को ही उड़ा दिया। उनके दर्शन में नैतिकता के लिये कोई स्थान नहीं है। प्रो0 केयर्ड ने शंकर के जगत् विषयक विचार की आलोचना यह कहकर की है कि 'शंकर के दर्शन में विश्व को सत्य नहीं माना गया है जिसके फलस्वरूप अविश्वासवाद का विकास होता है। यह पलायनवादी दर्शन है।'

वस्तुतः ये आक्षेप पूर्णतः निराधार है। यह आलोचना उनके दर्शन को भली–भाँति न समझने के कारण है। शंकर ने व्यावहारिक दृष्टि से ही सही, उस पर विस्तृत विचार किया है। जगत् का विस्तार बताते हुये शंकर लिखते है– "जगतो नामरूपक्रियाकारक फलजातस्य"। "समस्त नामरूप, क्रिया, कारक और उनके फल जगत् के अन्तर्गत आते हैं।"

शंकर ने जगत् को भ्रम, स्वप्न, शुक्ति–रजत इत्यादि शब्दों से संकेत किया है। इन उपमाओं का यथार्थ अर्थ ग्रहण करने में ही हमारे सामने कठिनाई उत्पन्न होती है। इन शब्दों का प्रयोग यह बताने के लिये किया गया है कि जगत् पूर्णतः सत्य नहीं है। शंकराचार्य इस बात पर बल देते है कि उपमाओं को ज्यों का त्यों नहीं समझना चाहिये। उपमायें वस्तु के सादृश्य बतलाती है, यथार्थता नहीं।

शंकर के दर्शन में जगत् को असत् कहना भ्रामक है। शंकर ने जगत् को मिथ्या कहा है। सदसद्विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय कहा है। जगत् की अनिवर्चनीयता का तात्पर्य जगत् का असत् होना नहीं है।

शांकरवेदान्त में सत्ता के तीन स्तर प्राप्त होते है–

पारमार्थिक, प्रतिभासिक और व्यावहारिक।

पारमार्थिक सत्ता वह है जो न कभी बाधित होता है और न भविष्य में उसके बाधित होने की सम्भावना होती है। एकमात्र ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है। प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत् स्वप्न और भ्रम–पदार्थ आते है जिनकी सत्ता क्षणभर के लिये होती है। व्यावहारिक सत्ता के अन्तर्गत् समस्त प्रपंचात्मक जगत् आते है। चूंकि सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत् तत्वज्ञान से बाधित होता है, अतः पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षाकम यथार्थ है। किन्तु प्रातिभासिक सत्ता से अधिक यथार्थ है। किन्तु प्रातिभासिक सत्ता से अधिक यथार्थ है। इस प्रकार जगत् व्यावहारिक दृष्टि से पूर्णतः सत्य है।

वस्तुतः व्यवहार भी भ्रम है, किन्तु असाधारण स्तर का। यह समष्टिगत भ्रम है जिसका अनुभव सबको होता हैं प्रपंचात्मक जगत् अपने स्तर पर सत्य है। जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तब तक इसकी सत्यता बनी रहती है। इस प्रकार शंकर जगत् की व्यावहारिक सत्ता का साग्रह प्रतिपादन करते है।

अद्वैतवेदान्त के भाष्यकार स्वामी विद्यारण्य ने 'पंचदशी' में जगत् के स्वरूप का सटीक वर्णन किया है। उनके अनुसार–

(1) जगत् पारमार्थिक दृष्टि से असत् है।
(2) जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत् है।
(3) जगत् तार्किक दृष्टि से अनिर्वचनीय है।

शंकर का मोक्ष विचार भी जगत् की असत्यता का खंडन करता है। यहां मोक्ष का अर्थ जगत् का तिरोभाव नहीं है। यदि ऐसा होता तो एक व्यक्ति के मोक्ष प्राप्त करते ही जगत् का लोप हो जाता। पुनः मोक्ष की प्राप्ति इस जगत् में रहकर ही की जाती है। जीवन्मुक्त व्यक्ति के लिये ब्रह्मबोध की स्थित में प्रत्यक्ष जगत् का लोप

न होकर द्वैतमूलक नाम रुपात्मक प्रपंच एवं उससे उत्पन्न होने वाले समस्त व्यवहारों का लोप होता है। अतः जगत् को पूर्णतः असत्य मानना भ्रान्तिमूलक है। जगत् को मिथ्या कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि जगत् की सत्ता ब्रह्म से पृथक नहीं है। इस विषय में 'डॉ0 राधाकृष्णन' ने कहा है– "जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त, मूल्यों की भिन्नता में विश्वास, सत्य और भ्रान्ति में विश्वास, धर्म और अधर्म में विश्वास, मोक्ष प्राप्ति की संभावना जो विश्व की अनुभूतियों के द्वारा सम्भव है, प्रमाणित करताहै कि आभास में भी सत्यता निहित है।" जिस प्रकार मिट्टी के घड़े का आधार मिट्टी होने के कारण मिट्टी का घड़ा सत्य माना जाता है, उसी प्रकार विश्व का आधार ब्रह्म होने के कारण विश्व को पूर्णतः असत्य मानना गलत है। जिसका आधार यथार्थ हो, किन्तु जो स्वयं यथार्थ न हो, उसे यथार्थ का आभास या व्यावहारिक रूप अवश्य कहा जायेगा। अतः शंकराचार्य जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन के द्वारा ब्रह्मव्यतिरिक्त जगत् की सत्ता का निराकरण किया है, भौतिक जगत् के अभव का नहीं। शंकर के जगत् विषयक विचर से स्पष्ट है कि शंकर जगत् को असत् न कहकर मिथ्या कहते है और मिथ्या असत् से भिन्न है। उन्होंने जगत् को असत् कहने के कारण ही बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन किया और शून्यवाद को महत्वहीन घोषित किया। शंकराचार्य प्रपंचात्मक जगत के सत्यत्व को मुक्त कंठ से स्वीकार करते है। उनके दर्शन में सत् का विचार अत्यन्त व्यापक है, वे प्रतिभास तक को उसके स्तर पर सत्य मानते है, जिसे यथार्थवादी भी असत् कहता है। शंकराचार्य स्वयं सावधान करते हुये कहते हैं "द्वैत भेद से सत् ही अन्यथा रूप से गृहीत होने के कारण कभी किसी पदार्थ की असत्ता नहीं है।"

यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि आधुनिक युग में, इस प्रकार के अद्वैती चिन्तन का हमारे व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोगिता है? एकमात्र ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता और पुनः व्यावहारिक स्तर पर जगत् की स्वीकृति, इस अद्वैती चिन्तन की गहनता में हम पाते है कि यह दर्शन जीवन के यथार्थ मूल्यों का सम्यक् उद्भासित करते हुय बहुमुखी आयामों को निरूपित करता है। आज के परिवेश में जबकि वैज्ञानिक अभ्युदय ने हमें विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया है, भौतिकता की तीव्र आँधी ने मानव जीवन के मूल्यों एवं आदर्शों को समूल धराशायी कर दिया है, मानवता खोखली होती जा रही है, भय तथा संत्रास के आवरण ने सम्पूर्ण मानव जाति को आवृत्त कर रखा है, ऐसे समय में इस प्रकार की तत्वमीमांसीय विचारधारा का महत्व और ही अधिक बढ़ जाता है। भारतीय संस्कृत में विवेचित 'आचार' शब्द का अर्थ है "अनुभूत सत्य को जीवन में उतार लेना"। जिसकी समीचीन प्रस्तुति शंकर के दर्शन में होती है। जीवन्मुक्त की स्थिति इसी तथ्य का प्रतिनिधित्व करती है। पंचविकारों के स्वभाव जन्य प्रवाह के अवरूद्ध होते ही जीवन सात्विकता से तादात्म्य बना लेता है तथा आध्यात्मिक नैतिकता का अभ्युदय होता है जो निश्चय ही विश्व दर्शन के इतिहास में उपलब्ध किसी भी नैतिकता से उत्कृष्ट एवं व्यापक है।

व्यावहारिक स्तर पर जगत् की स्वीकृति और तदनुसार आचरणशीलता को जो अंकन हम शंकराचार्य के दर्शन में पाते है, उसकी उद्भावना आचर्य शंकर 'विवेकचूड़माणि' में इस प्रकार करते है, "ऐसे लोग जिनकी कामनाएं शान्त हो गयी है तथा जो स्वयं संसार समुद्र को तैरकर पारकर चुके है, वे बिना किसी कारण के लोक–कल्याण में लगे रहते हैं।" वस्तुतः शंकर का तत्वमीमांसीय चिन्तन जगतम्मिथ्यात्व की सिद्धि द्वारा लोक कल्यण की दिशा में अग्रसर होने का सन्देश देती है तथा मानव और मानव एवं राष्ट्र के बीच प्रेम की भावना जाग्रत करता है। अपने कर्तव्य के प्रति यह निःस्वार्थ और स्वाभाविक निष्ठा हमें आचार्य शंकर के दर्शन में मिलता है, जो गीता के निस्काम कर्मयोग की याद दिलाती हुई, हमें सुख–दुःख हानि–लाभ से अप्रभावित रहते हुये एक निरपेक्ष किन्तु आदर्श जीवन जीने के लिए प्रेरित करती है।

इस प्रकार आचार्य शंकर का तत्वमीमांसीय चिन्तन एक ऐसा पूर्ण एवं पारमार्थिक स्वरूप पर गहनतापूर्वक विचार किया गया है। इसके अनुशीलन एवं गहन विवेचन से हम अपना अभिनव सृजन करते हुये सामाजिक, नैतिक, भौतिक और आध्यात्मिक समस्त दृष्टियों से आत्मोन्नयन कर सकते है और एक यथार्थ तथा पूर्ण जीवन निरूपित कर सकते है। बाह्याडम्बरों का परित्याग एवं पूर्ण सत्य के सम्यक् अनावरण द्वारा ही हम आत्मस्वरूप का युक्तियुक्त निरूपण कर सकते हैं।

शंकराचार्य ने अपने तत्वमीमांसीय चिन्तन में जीवन का जो सर्वोच्च सम्भव आदर्श है। परमब्रह्म की अखण्ड और शाश्वत उपलब्धि और यह आदर्श इसी जगत में रहकर, इसकी प्रापित इस दर्शन की सबसे बड़ी विशिष्टता है। कोई भी व्यक्ति इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। सगुण ईश्वर का सानिध्य और साक्षात्कार की तुलना में ब्रह्म या परमसत् से तादात्म्य प्राप्त करना कहीं ऊँची बात है। अपने सीमित अहं से ऊपर उठकर सर्वव्यापी अहं प्राप्त करना जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि है। किन्तु इसमें सबसे बड़ा आकर्षण यह है कि यह उपलब्धि इस जगत् में सम्भव है। जगत् का त्याग और अपने कर्तव्यों से पलायन करने की आवश्यकता नहीं है।

एकमात्र विशुद्ध चैतन्य परब्रह्म, मैं ही वह पर ब्रह्म और यह जगत् मेरी ही अभिव्यक्ति, यह तत्य विश्व दर्शन के इतिहास में उपलब्ध किसी भी तथ्य से कही अधिक मानवमन को संतुष्टि प्रदान करने में, उसके आत्मोत्सर्ग में, पूर्णतः सक्षम है। आज जबकि समाज रंगभेद, ऊँच–नीच, छुआछूत जैसी कुरीतियों के कुचक्र में उलझ गया है, वैयक्तिक अहं का घिनौना ताण्डव द्वेष, हिंसा, घृणा की सृष्टि करता हुआ, दूसरों के अस्तित्व की सम्मानपूर्ण स्वीकृति का निषेध कर रहा है, ऐसे समय में शंकर का तत्वमीमांसीय चिन्तन हमें व्यावहारिक स्तर परसमानता, सम०जस्य, सहकारिता, सद्व्यवहार की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता हैं दूसरों के प्रति एक सम्मानपूर्ण एवं आत्मिक सम्बन्धों की नींव प्रस्तुत करता है,जिस प्रकार एक आदर्श एवं मर्यादित समाज की संरचना की जा सकती है।

अंत में तात्विक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म की स्वीकृति जीव की ब्रह्म से अभिन्नता तथा जगत् को ब्रह्म का आभास बताना अद्वैतवेदान्त की एक अद्भूत प्रहेलिका है। पुनः व्यावहारिक स्तर पर जगत की सत्ता का प्रतिपादन और परमब्रह्म की प्राप्ति इसी जीवन में सम्भव बताना तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतू सम्यक् आचरण का मार्ग प्रतिपादन करना इस दर्शन की सबसे बड़ी विशिष्टता है। यह इस दर्शन का अपना आकर्षण है कि वह कालानुसार, जगत के लौकिक व्यवहारों एवं परमार्थ सत्तागत ब्रह्मनुभूति इन दोनों का ही समर्थन करता है।

सन्दर्भ–

1. अद्वैत वेदान्त में तत्व और ज्ञान– डा0 उर्मिला शर्मा, छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी
2. अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका– जगदीश सहाय श्रीवास्तव, किताब महल, इलाहाबाद
3. अद्वैत वेदान्त–हृदय नारायण मिश्र/अर्जून मिश्र, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
4. अद्वैत वेदान्त, प्रो0 राममूर्ति शर्मा, (इतिहास तथा सिद्धान्त)– ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली

शोध छात्रा दर्शन एवं धर्म विभाग
का.हि.वि.वि., वाराणसी

पौराणिक हिन्दू धर्म : एक दृष्टि

डॉ. श्याम नारायण यादव*

पौराणिक हिन्दू धर्म निगम और आगम, दोनों पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक विधान है। आगम प्राग्वैदिक काल से चली आ रही वैदिकेतर धार्मिक परम्परा का वाचक है। पुराण और पौराणिक धर्म उतने नवीन नहीं है, उन्हें पश्चिम में विद्वानों ने सिद्ध किया है। "सम्भव है इतिहास–पुराणों का आरम्भ अथर्ववेद काल में हुआ। अथर्ववेद में कहा गया है कि ऋग्वेद, सामवेद, पुराणों के साथ यजुर्वेद तथा छन्द ब्रह्मदेव से उत्पन्न हुए (11/7/24)। शतपथ–ब्राह्मण के (11/5/7/9) ब्रह्म–यज्ञ में इतिहास तथा पुराणों के पठन का फल बताया गया है और कहा गया है कि अश्वमेद्य में (13/4/3/13) पुरण तथा वेद का पाठन किया जाय।"[1]

पुराणों का उल्लेख धर्मसूत्रों में भी है तथा मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं ऋग्विधान में भी है। रामायण और महाभारत तो पुराणों के नाम कई बार लेते हैं। इन सारे प्रमाणों से यह अनुमान सृदृढ़ हो जाता है कि पुराणों की परम्परा वेदों की परम्परा से कम प्राचीन नहीं है।[2] निगम वेदों के सुनिश्चित विधान हैं और संगम परम्परा से आते हुए ज्ञान के समवाय, इस प्रकार का कोई अस्पष्ट भाव प्राचीनों का भी रहा होगा। यह भी ध्यान देने की बात है कि जब वेदों का पठन–श्रवण केवल पुरूषों और द्विज–वर्ग तक सीमित किया जाने लगा, तब भी, पुराणों पर ऐसी कोई रोक नहीं लगायी गयी। ब्राह्मणों ने पूरी कट्टरता से पहरा केवल वेदों पर दिया। पुराण आर्येतर जनता के भावों और विचारों से ओत–प्रोत थे, अतएव, ब्राह्मणों ने पुराणों को केवल अपना आविष्कार नही माना, न उन्हें जनता की पहुँच में जाने से रोक रखने की कोशिश की।

पुराणों में यज्ञ, राक्षस, विद्याधर, नाग, किरात आदि लोगों का जो उल्लेख है, वह स्पष्ट ही, आर्येतर जातियों के अस्तित्व की सूचना देता है। पुराणों के अनुसार देवों की अपेक्षा असुरों का प्राचीन होना अधिक सम्भव दीखता है। इससे सूचित होता है कि भारत में आर्यों से भिन्न और भी बहुत से लोग थे, जिनके मौखिक साहित्य का समावेश पुराणों में हुआ है।[3]

जनता में एक अनुश्रुति चलती है कि व आगम भी निगम से निकले हैं, निगम में जो बातें मुहावरों में कही गयी है, आगम उन्ही का आख्यान आधुनिक भाषा में करते हैं, किन्तु दोनों की भिन्नता भी स्पष्ट है। निगम अपौरूषेय हैं, उन्हें किसी ईश्वर ने नहीं बनाया क्योंकि ईश्वर भी पुरूष ही है, किन्तु आगम शिव, शक्ति अथवा विष्णु के मुख से उद्गीर्ण माने जाते हैं। आगमों की पूर्ण परिणिति भक्ति में हुई। भक्ति और वेदान्त में भेद है। वेदान्त केवल ब्रह्म को मानते हैं। भक्ति तत्वत्रय (ईश्वर, जीव और प्रकृति) में विश्वास करती है। वैदिक धर्म चार वर्णों में विश्वास करता है और शूद्र को वेद–वेदान्त पढ़ने का अधिकार नही देता। वैदिक धर्म के अनुसार सन्यास का भी अधिकार केवल ब्राह्मण को है, किन्तु, भक्ति ऐसे बन्धनों में विश्वास नहीं करती। भक्ति–मार्ग में चाण्डाल को भी यह अधिकार है कि वह चाहे तो शिव, शक्ति या विष्णु की प्रतिमा की पूजा कर सकता है। वैसे, वेदान्त–दर्शन के अनुसार वर्णभेद की सत्ता नहीं ठहरती। फिर भी, पारिभाषिक दृष्टि से, वेदान्त भी वेद ही है। इसलिए, शूद्रों के लिए वे वर्जित कर दिये गये।

देवता भी पुराणों में, कम–से–कम तीन प्रकार के हैं। कुछ देवता वे हैं जिनकी कल्पना वेदों ने की और कुछ वे हैं जो प्राग्वैदिक भारत में पूजे जाते थे और, बाद को वैदिक धर्म में प्रवेश पा गये। तीसरे प्रकार के देवता वे हैं जो आर्य–द्रविड़–मिश्रण के बहुत बाद, बाहर से आने वाली नयी जातियों के साथ आये होंगे और जिनकी प्रधानता इधर हाल के पुराणों में दिखायी देती है वैदिक देवताओं में प्रधान इन्द्र, अग्नि, ऊषा वरूण, अश्विनीकुमार, पूषन्, ब्रह्मा इत्यादि थे, जिनकी पूजा का प्रचलन अब, प्रायेण, अवरूद्ध हो गया है। प्राग्वैदिक और वैदिक धाराओं को सम्पृक्त करने वाले देवताओं में से मुख्य देवता शिव और उमा हैं।

डॉ0 मंगलदेव शास्त्री ने यह भी अनुमान लगाया है कि भारतीय संस्कृति में जो कई परस्पर–विरोधी 'युग्म' है, उनका भी कारण यही है कि यह संस्कृति, आरम्भ से ही, सामासिक रही है। उदाहरणार्थ, भारतीय समाज में द्वन्द्व तो कर्म और सन्यास को लेकर है, दूसरा प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच तथा तीसरा स्वर्ग और नरक की कल्पनाओं को लेकर। यह विषम, सचमुच, विचारणीय हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से भारत की मानसिकता दो धाराओं में विभक्त रही है। एक धारा कहती है कि जीवन सत्य है और हमारा कर्तव्य यह है कि हम बाधाओं पर विजय प्राप्त करके जीवन में जयलाभ करके एवं मानव–बन्धुओं का उपहार करते हुए यज्ञादि से देवताओं को भी प्रसन्न करें, जिससे हम इस जीवन के साथ ही परलोक में भी सुख और आनन्द प्राप्त कर सकें, किन्तु, दूसरी धारा की शिक्षा यह है कि जीवन नाशवान् है। हम जो भी करें, किन्तु हमें रोग और शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, न मृत्यु से हम भाग सकते हैं। हमारे आनन्द की स्थिति वह थी, जब हमने जन्म नहीं लिया था। जन्म के कारण ही हम वासनाओं की जंजीर में पड़े हैं। अतएव, हमारा श्रेष्ठ धर्म यह है कि उन सुखों को त्याग दों जो हमें ललचा कर संसार में बाँधतें हैं। इस धारा के अनुसार मनुष्य को घर–बार छोड़कर सन्यास ले लेना चाहियें और देह–दंडनपूर्वक वह मार्ग पकड़ना चाहिये–जिससे आवागमन छूट जाय।

अनुमान यह है कि कर्म और सन्यास में से कर्म, तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति में से प्रवृत्ति से सिद्धान्त, प्रमुख रूप से वैदिक हैं तथा सन्यास और निवृत्ति के सिद्धान्त, अधिकांश में, प्राग्वैदिक मान्यताओं से पुष्ट हुए होंगे। किन्तु, आश्चर्य की बात है कि भारतीय अध्यात्म–शास्त्र और दर्शन पर जितना प्रभाव सन्यास और निवृत्ति का है, उतना प्रभाव कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का नहीं है। ऋग्वेद के आधार पर यह मानना युक्तिसंगत है कि आर्य पराक्रमी मनुष्य थे। पराक्रमी मनुष्य सन्यास की अपेक्षा कर्म को अधिक महत्व देता है, दुःखों से भाग खड़ा होने के बदले वह डटकर उनका सामना करता है। आर्यों का यह स्वभाव कई देशों में बिल्कुल अक्षुण्ण रह गया। विशेषतः यूरोप में उनकी पराक्रमशीलता पर अधिक ऑच नहीं आयी। किन्तु, कई देशों की स्थानीय संस्कृति और परिस्थितियों ने आर्यों के भीतर भी पस्ती डाल दी एवं उनके मन को निवृत्ति–प्रेमी बना दिया। भारत की प्राग्वैदिक संस्कृति ने आर्यों की वैदिक संस्कृति के चारों ओर अपना जो विशाल जाल फैला दिया, उसे देखते हुए यह सूक्ति काफी समीचीन लगती है कि "भारतीय संस्कृति के

बीच वैदिक संस्कृति समुद्र में टापू के समान है।"[4]

वैदिक और आगमिक तत्वों के बीच संघर्ष, कदाचित् वेदों के समय भी चलते होंगे, क्योंकि आगम हिंसा के विरूद्ध थे और यज्ञ में हिंसा होती थी। इस दृष्टि से जैन और बौद्ध धर्मों का मूल आगमों में अधिक, वेदान्त में कम मानना चाहियें। हाँ, जब गीता रची गयी, तब उसका रूप भागवत आगम का रूप हो गया। सांस्कृतिक समन्वय के इतिहास में भगवान् श्रीकृष्ण का चरम महत्व यह है कि गीता के द्वारा उन्होंने भागवतों की भक्ति, वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दुरूह–सूक्ष्म दर्शन को एकाकार कर दिया।

आर्यों का उत्साह और प्रवृत्तिमार्गी दृष्टिकोण, कदाचित् महाभारत के पूर्व तक अक्षुण्ण रहा था। महाभारत की हिंसा ने भारत के मन को चूर कर दिया। वहीं से, शायद, यह शंका उत्पन्न हुई कि यज्ञ सद्धर्म नहीं हैं, और जीवन का ध्येय सांसारिक विजय नहीं, प्रत्युत, मोक्ष होना चाहिए। महाभारत की लड़ाई पहले हुई, उपनिषद कदाचित, बाद को बने हैं।

संसार को सत्य मानकर जीवन के सुखों में वृद्धि करने की प्रेरणा कर्मठता से आती है, प्रवृत्तिमार्गी विचारों से आती है। इसके विपरीत, मनुष्य जब मोक्ष को अधिक महत्व देने लगता है, तब कर्म के प्रति उसकी श्रद्धा शिथिल होने लगती है। मोक्ष–साधना के साथ भीतर–भीतर, यह भाव भी चलता है कि इन्द्रिय–तर्पण का दंड परलोक में नरकवास होगा। यह विलक्षण बात है कि वेदों में नरक और मोक्ष की कल्पना, प्रायः नहीं के बराबर है। विश्रुत वैदिक विद्वान डॉ0 मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है "बहुत से विद्वानों को भी यह जानकर आश्चर्य होगा कि वैदिक संहिताओं में 'मुक्ति', 'मोक्ष' अथवा 'दुःख' शब्द का प्रयोग एक बार भी हमको नहीं मिला।" अन्यत्र उन्होंने यह भी लिखा है कि "नरक शब्द ऋग्वेद– संहिता, शुक्ल– यजुर्वेद – वाजसनेयि – माध्यन्दिन–संहिता तथा साम–संहिता में एक बार भी नहीं आया है। अथर्व–वेद–संहिता में 'नारक शब्द केवल एक बार प्रयुक्त हुआ है।"

अब यह विश्वास दिलाना कठिन है कि जिस निवृत्ति का भारत के अध्यात्म–शास्त्र पर इतना अधिक प्रभाव है, वह आर्येतर तत्व थी। किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य में निवृत्ति–विरोधी विचार इतने प्रबल हैं कि निवृत्तिवादी दृष्टिकोण को आर्येतर माने बिना काम चल नहीं सकता।

इसी प्रकार, ऋषि और मुनी शब्दों का युग्म भी विचारणीय है। ऋषि शब्द का मौलिक अर्थ मन्त्रद्रष्टा है, किन्तु मन्त्रों के द्रष्टा होने पर भी वैदिक ऋषि गृहस्थ होते थे और सामिष आहार से उन्हें परहेज नहीं था। पुराणों में ऋषि और मुनि शब्द, प्रायः पर्यायवाची समझे गये हैं, फिर भी, विश्लेषण करने पर यह पता चल जाता है कि मुनि गृहस्थ नहीं होते थे। उनके साथ ज्ञान, तप, योग और वैराग्य की परम्पराओं का गहरा सम्बन्ध था। ऋषि और मुनि, दो भिन्न सम्प्रदायों के व्यक्ति समझे जाते थे। "मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। होने पर भी उसका ऋषि शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है।"[5] पुराणों में ऋषि और मुनि के, प्रायः पर्यायवाची होने का एक कारण तो यही मानना होगा कि पुराणों का आधार वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वित रूप है। अतएव, पुराणकार प्रत्येक धर्मप्राण साधु और पंडित को, प्रसंगानुसारा, ऋषि या मुनि कहने में कोई अनौचित्य नहीं मानते थे। जब बौद्ध और जैन आन्दोलन खडे हुए, बौद्धों और जैनों ने प्रधानता ऋषि शब्द को नहीं, मुनि शब्द को दी। इससे भी यही अनुमान दृढ़ होता है कि मुनि–परम्परा प्राग्वैदिक रही होगी। "ऋषि–सम्प्रदाय और मुनि–सम्प्रदाय के सम्बन्ध में, संक्षेप में, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि दोनों की दृष्टियों में हमें महान् भेद प्रतीत होता है। जहाँ एक झुकाव (आगे चलकर) हिंसामूलक मांसाहार और तन्मूलक असहिष्णुता की ओर रहा है, वहीं दूसरी का अहिंसा तथा तन्मूलक निरमिषता तथा विचार–सहिष्णुता (अथवा अनेकान्तवाद) की ओर रहा है। इनमें से एक, मूल में वैदिक और दूसरी, मूल में, प्राग्वैदिक प्रतीत होती है।"[6] इस अनुमान की पुष्टि इस बात से भी होती है कि मोहनजोदड़ों की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थकर श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है, जैसे कालान्तर में, वह शिव के साथ समन्वित हो गयी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति–युक्त नहीं दीखता कि ऋषभदेव, वेदोल्लिखित होने पर भी, वेद–पूर्व हैं।

पंडितों ने एक और युग्म पर विचार करके बताने की चेष्टा की है कि हिन्दू–संस्कृति के कुछ उपकरण वैदिक और कुछ अवैदिक है। वह युग्म ग्राम और नगर का युग्म है। वैदिक संहिताओं में 'ग्राम' शब्द अनेक बार आया है, किन्तु 'नगर' शब्द का प्रयोग उनमें कहीं नहीं मिलता।[7] सम्भव है, वेदों के समय ग्राम और नगर का भेद बहुत प्रत्यक्ष नहीं रहा हो और दोनों के लिए आर्य एक ही शब्द का प्रयोग करते रहे हों। किन्तु, यह सम्भावना अधिक टिकाऊ नहीं है। वैदिक संहिताओं और धर्मसूत्रों में वैदिक सभ्यता ग्राम–प्रधान दीखती है और पुराणों में नगरों के निर्माता मय–वंशीय लोग माने गये हैं, जो दानव जाति के होते थे। अतएव, अनुमान यही ठीक ठहरता है कि आर्य नगरों के निर्माता नहीं थे, यह कला उन्होंने भारत आकर सीखी। इन्द्र का पुरन्दर (नगर–भंजक) नगरा इस अनुमान को और भी सबल बनाता है। आर्यों का सामना इस देश में उन लोगो से हुआ था, जो लौह–निर्मित पुरी (आयसीः पुरः) में निवास करते थे। ऐसे नगरों का ध्वंस करने के कारण ही इन्द्र ने पुरन्दर उपाधि प्राप्त की थी। आश्चर्य है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई में लोहे के निशान नहीं मिले हैं।

कहते हैं, आर्यों के समाज में ग्राम–संस्कृति की प्रधानता होने के कारण की जाति–प्रथा रूढ़ हो गयी। अपने पूर्वजों के धन्धों को छोड़कर कोई नया धन्धा सीखन या ग्रहण कर लेना नगरों में जितना आसान होता है, ग्रामों में वह उतना आसान नहीं होता। नगरों पर परिवर्तन का प्रभाव अधिक पड़ता है। ग्राम ऐसे प्रभावों का अवरोध करते हैं। आर्यों की अर्थ–व्यवस्था ग्रामों पर आधारित थी। इसीलिए, उनकी जाति–व्यवस्था उतनी टिकाऊ हो सकी। सिन्धु–संस्कृति के विध्वंस के उपरान्त भारतवर्ष में नगर–संस्कृति को प्रधानता किसी भी समय नहीं मिली। ग्राम या देहात से सम्बद्ध अर्थ–शास्त्र का निरन्तर बने रहना जाति–भेद की उत्पत्ति में सहायक हुआ है।"[8]

इस प्रसंग में ध्यान इस बात पर भी जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इनमें से किसी का भी सम्बन्ध शिल्प या कला–कौशल से नहीं है। शिल्पी और कारीगर आर्यों के यहाँ शूद्र माने जाते थे। शिल्प और कला–कौशल तथा उद्योग नागरिक सभ्यता के लक्षण हैं। आर्य ग्रामों के भक्त थे। इसीलिए , कला–कौशल को उन्होंने ईषत् हेय माना। इसीलिए, त्रिवर्ण में से किसी के लिए भी उन्होंने शिल्प या कारीगरी को विहित नहीं बताया। आरम्भ में शिल्पी और कारीगर, कदाचित्, आर्य–रक्त के

नहीं थे। इसलिए, परम्परा चल पड़ी की शिल्प करने वाले लोग त्रिवर्ण नहीं गिने जायेंगे।[9]

पौराणिक हिन्दुत्व के मुख्य निर्माता और भारत के सबसे बड़े पुराणकार महर्षि व्यास का जन्म एक धीवर–कन्या की कुक्षि से हुआ था। वर्तमान प्रसंग में कुछ प्रकाश इस कथा से भी छिकटता है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि आर्य और आर्येतर, दोनों ही प्रकार के रक्त से सम्बद्ध होने के कारण एवं वैदिक–प्राग्वैदिक, दोनों ही संस्कृतियों के उत्तराधिकारी होने के कारण, व्यास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में विश्वास करते थे? पुराण शब्द का अर्थ ही प्राग्वैदिक संस्कृतियों की ओर निर्देश करता है। उनका सहयोग उसे समय के अनेकानेक ऋषि–मुनियों ने किया होगा, जिनमें से अनेकों की धमनियों में, व्यास के सदृश ही, दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था और, प्रायः इसीलिए उनका विश्वास दोनों संस्कृतियों के समन्वय में था।"[10]

सन्दर्भ–

1. वैदिक संस्कृति का विकास : लक्ष्मण शास्त्री जोशी।
2. वायु पुराण के अनुसार ब्रह्मा से पहले पुराण (विषय की दृष्टि से) की सृष्टि हुई और तत्पश्चात् वेद। मंगल देव शास्त्री।
3. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह 'दिनकर'।
4. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ – 32।
5. डॉ0 मंगलदेव शास्त्री।
6. डॉ0 मंगलदेव शास्त्री।
7. डॉ0 मंगलदेव शास्त्री।
8. वैदिक संस्कृति का विकास : लक्ष्मण शास्त्री जोशी।
9. श्री रामधारी सिंह 'दिनकर'।
10. डॉ0 मंगलदेव शास्त्री।

*रीडर एवं विभागाध्यक्ष–संस्कृत विभाग
स्वामी करपात्री जी महाराज राजकीय
महाविद्यालय पूरेगोसाई, रानीगंज, प्रतापगढ़

प्रमुख धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में मानवतावाद

सन्तोष कुमार उपाध्याय*

भारतीय परम्परा में धर्म वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक जीवन का नियामक तत्व माना गया है। इसे एक ऐसी आचार संहिता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रियाकलाप के निर्वाध और सामंजस्यमय संचलान के लिए आवश्ययक विधिनिषेध की व्यवस्था देती है और व्यष्टि तथा समष्टि के सर्वविधि कल्याण का पथ प्रशस्त करती है। धर्म व्यवस्था कर्णधारों के ऊपर धर्म की रक्षा का महान दायित्व रहता है और उनके आचरण से प्रभावित होकर अन्य लोग भी धर्म मार्ग का अनुगमन करते हैं। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' 'यतोऽभ्युदयानिः श्रेयस सिद्धि स धर्मः' 'धारणाद्धर्मः' आदि आप्त वचनों से धर्म के इसी महत्व को उद्घाटित किया गया है।

धर्म को कर्तव्य के रूप में निरूपित किया गया है। भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम व्यवस्था के द्वारा व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है। वस्तुतः मानवतावाद की अवधारणा आधुनिक परिप्रेक्ष्य में बहुत ही प्रासंगिक और चुनौतीपूर्ण है। क्योंकि आज राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं अपितु विश्व स्तरपर मानवता खतरे में है। प्रायः हम देखते हैं कि मानव समाज में स्नेह, आत्मीयता एवं भ्रातृत्व की भावना का अभाव हो रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आज का युवक अपनी (भारतीय) संस्कृति से विमुख होकर पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हो रहा है। उसे अपने धर्म का बोध नहीं है। भारतीय संस्कृति विशुद्ध मानवतावादी है। यह संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओत–प्रोत है। आधुनिक युग में मानवता (इंसानियत) लगभग लुप्तप्राय होती सी परिलक्षित हो रही है। आज समग्र विश्व में हिंसा मानव के प्रति परस्पर विद्वेष की भावना लूटखसोट, बलात्कार आदि दुष्कृष्य इस सीमा तक पहुँच चुका है कि कोई भी मनुष्य अपने को किसी भी क्षण सुरक्षित महसूस नहीं करता। वह प्रतिपल अपने अस्तित्व के विषय में सशंकित रहता है और यदि सम्पूर्ण समाज में ऐसी ही स्थिति रही तो विश्व को विनाश के कागार पर जाने से कोई नहीं रोक सकता। उक्त विषय पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि 'मानव' के अर्थ को भली–भाँति समझ लिया जाए। प्रसंगतः यह कहना समीचीन होगा कि मानव सृष्टि की सर्वोत्तम एवं सुन्दर रचना है। मनुष्य जन्म दुर्लभ है ''दुर्लभ मनुष्यत्वम्'' ऐसी मान्यता है कि लाखों योनियों को पारकर मनुष्य जन्म मिलता है। मनुष्य ही क्या? देव भी इसको पाने के लिए अभिलाषित रहते है। अतः ऐसे दुर्लभ जीवन को प्राप्त कर इसे सुन्दर बनाने का प्रयास करना चाहिए। मनुष्य योनि में जन्म लेने से मनुष्य पशुओं की भाँति आहार–निद्रा, भय एवं मैथुन क्रिया के द्वारा अपना जीवन यों ही व्यतीत कर देता है उसे पशु की ही संज्ञा दी जाती है। वह मनुष्य रूप में पशु ही है। (आहार, निद्रा भय, मैथुनन्च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्) जैसा कि आचार्य भर्तृहारी ने अपने ग्रन्थ 'नीतिशतक में स्पष्ट रूप से कहा है–

येषा न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यं लोके भुवि भारभूता
मनुष्य रूपेणा मृगाश्चरन्ति।।

उक्त श्लोक से यह ध्वनित होताहै कि, उक्त गुणों से रहित को पशु तथा उपर्युक्तत गुणों से संचालित व्यक्ति को ही मनुष्य (मानव) की संज्ञा से व्यवहृत किया जाता है। मानवेतर योनियाँ मात्र भोग योनिया हैं। 'जायस्व म्रियस्व' जन्म लो भोग करो और मरो, यही इनकी नियति है। दूसरी ओर मनुष्य योनि भोग योनि तो है ही परन्तु कर्म योनि भी है। वह मननशील, चिन्तनशील और विवेकशील है। भौतिक उन्नति एवं आत्मिक उन्नति की पराकाष्ठा को प्राप्त करना केवल मानव के लिए ही सम्भव है। मनुष्य ही 'सगच्छध्वं संवदध्वं' की भावना को आत्मसात् कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मूर्त रूप प्रदान कर सकता है।

मानवता 'मानव शब्द से निष्पन्न है। मानव शब्द में भाववाचक 'तल' प्रत्यय 'ता' जुड़ने से यौगिक शब्द 'मानवता' बनता है। मानवता का सामान्य अर्थ मनुष्यत्व हेाता है। मानवतावाद का आधार मानव की गहराइयों का तत्व ज्ञान है जिसे अध्यात्म विद्या कहा जाता है। मानवता वाद के मूल में एक प्रमुख बात है 'सत्यकी खोज एवं मानव का कल्याण' क्योंकि मानव की सेवा ही सबसे बड़ा तप एवं धर्म है।

'सेवा धर्मः परम गहनो' महर्षि वेदव्यास के मतानुसार '' आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'' अर्थात् जो अपने को अच्छा न लगे वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति भी न करे। यही दैवी भाव का आधार है। यही मानव धर्म एवं मानवता है। आपाततः धर्म एवं मानवता को परिभाषित करना कठिन है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र अपनी संस्कृति के अनुरूप धर्म, अधर्म का निर्धारण करता है। तथापि इसके विषय में एक सामान्य अवधारणा यह है कि –

यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तन्त देवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्तते।।

मानवता एक मानवीय प्रवृति है यह उदार भावना है। इसमें स्वार्थ एवं संकीर्णता का कोई स्थान नहीं है। भारतीय ऋषियों की यह उद्घोषणा विश्व के समस्त मानव के लिए थी कि पृथ्वी के समस्त मानव सुखी हों।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिददुःख भाग्भवेत्।।

यह इसका (मानवतावाद) मूल आधार है। मानवता के लिए प्राणिमात्र से बैर भावना का त्याग परमावश्यक है।

'अहिंसा परमो धर्मः' धर्माचार्य मनु महाराज ने धर्म के मार्ग पर चलने के लिए निम्न प्रमुख बातों का उल्लेख किया है–

घृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्दिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमोक्रोधे दशकं धर्मलक्षणम्।।

मानव के लिए उक्त गुणों से युक्त होना आवश्यक है। यही मानव धर्म एवं मानवता है। धार्मिक व्यक्ति भी उसी को कहा जाता है जो उक्त गुणों से युक्त होता है। उक्त गुणों से रहित व्यक्ति को अधार्मिक की संज्ञा दी जाती है।

वेद का उपदेश है कि दृश्य जगत के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर की सत्ता है। इसलिए उन योग्य पदार्थों के प्रति बहुत अधिक स्पृहा नहीं होनी चाहिए अपितु त्याग भाव से उनका भोग करना चाहिए तभी वास्तविक सुख एवं शान्ति की प्राप्ति होगी।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किश्चजगत्यांजगत्।
तेन व्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद् धनम्।।

वेद में प्रतिपादित किया गया है कि हे मानवों! तू इस संसार में ऐसे निवास कर कि सारा विश्व तेरे लिए यह घोंसला

बन जाए।

'यत्र विश्व भवत्येकनीऽम'

वैदिक धर्म वास्तव में मानव मात्र के कल्याण के लिए है। ऋग्वेद में ऋषियों ने मानव के कल्याणार्थ कामना की है कि हम अविनाशी एवं कल्याण प्रद मार्ग पर चलें जिस प्रकार बिना किसी का आश्रय लिए राक्षसादि दुष्टों से रहित पथ का अनुसरण कर अभिमत मार्ग पर चल रहे हैं उसी प्रकार हम भी परस्पर स्नेह के साथ शास्त्रोपदिष्ट अभिमत मार्ग पर चलें।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्या चन्दमसाविव।
पुनर्ददताध्नता जनता सं गमेमहि।।

शतपथ ब्राह्मण में भक्त की ईश्वर से प्रार्थना है कि हे प्रभु! असत् अर्थात् बुराई से मुझे सत् अर्थात् अच्छाई की ओर तथा अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो।

ऊँ असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्माऽमृतं गमय

इसी प्रकार ऋग्वेद में एक प्रसंग आता है जिसमें ऋषि ने मानव के कल्याणार्थ यह कामना व्यक्त की है– 'शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः' अर्थात् है मनुष्यों! शुद्ध और पवित्र बनों तथा परोपकारमय जीवन वाले हो। भक्त भगवान से प्रार्थना करता है कि हम लोगों मे सुख एवं कल्याणमय उत्तम संकल्प, ज्ञान और कर्म को धारण कराओ। ''भद्रं भद्र कतुमज्ञसरु धेहि'' यजुर्वेद में ईश्वर से कामना व्यक्त की है कि हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें –

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' शिव संकल्प सूक्त में भक्त की ईश्वर के प्रति प्रार्थना है –

'मन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु' अर्थात मेरा मन उत्तम संकल्पों वाला हो। इस प्रकार की मानवीय संवदेनाओं के विकास में धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों का महत्वपूर्ण योगदान है। अतः प्रत्येक मानव का धर्म है वह सभी को अपना माने भारतीय संस्कृति में पंडित या विद्वान उसी को माना गया है जो समस्त प्राणियों को अपने जैसा मानता है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

यदि सभी प्राणी इस अहम सूत्र को अपने जीवन में अपना लें तो सभी का जीवन सुखमय हो जाय। जीवन को दानवता, पशुता, असुर भाव से हटाकर स्नेह, आत्मीयता सामंजस्य, सहानुभूति, सहयोग एवं सेवाभाव जागृत कर सच्चा मानव बनाने वाले गुणों का नाम ही मानवता है।

सन्दर्भ–

1. नीति शतकम्
2. श्रीमद् भागवद्गीता अध्याय – 3 श्लोक संख्या 21
3. मनुस्मृति
4. ईशावास्योपनिषद्
5. मनुस्मृति
6. ऋग्वेद 5–51–15
7. शतपथ ब्राह्मण 14–1–1–1–30
8. ऋग्वेद 10–18–2
9. ऋग्वेद 1–123–13
10. यजुर्वेद 36–18
11. यजुर्वेद 34–1

*शोध छात्र, संस्कृत विभाग,
महात्मा गाँधी काशीविद्यापीठ, वाराणसी

स्मृतियों में राज्य का प्रजारंजन स्वरूप

प्रवीण कुमार राय*

शास्त्र संज्ञा से अभिहित भारत की ज्ञान और चिन्तन परम्परा श्रुतियों और स्मृतियों में संकलित है। वस्तुतः स्मृतियां हमारी सनातन श्रुति–परम्परा की वाहक हैं। श्रुतियों के गूढ़तम धर्मशास्त्रीय विचारों को स्मृतियों के द्वारा पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया गया है।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने चार पुरूषार्थों को मानव जीवन के उद्देश्यों के रूप में स्वीकार किया है। स्मृतियों का सम्बन्ध मानव जीवन के इन्हीं उद्देश्यों से है। इसी महत्व के कारण ही स्मृतियों को विधि के स्रोत के रूप में स्वीकार किया गया है।[1]

वर्तमान समय में हर राज्य अपने को एक 'कल्याणकारी राज्य' या प्रजा के कल्याण हेतु अपने को सदैव समर्पित कहलाना पसंद करेगा परंतु यह स्थिति प्राचीन समय से ही विद्यमान नहीं थी। 19वीं शती तक यूरोप के अधिकांश राज्य अपने को ''पुलिस राज्य'' या ''प्रहरी राज्य'' कहकर ही संतुष्ट थे। उनका मुख्य काम शांति एवं व्यवस्था कायम रखना था। जनकल्याण का कार्य व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों पर निर्भर था। परंतु 20वीं शती में जब राज्य ने अपने नागरिकों के कल्याण की दिशा में सकारात्मक भूमिका निभानी शुरू कर दी तब 'कल्याणकारी राज्य' का उदय हुआ। कल्याणकारी राज्य के विकास में औद्योगिक क्रांति के उन्नत दौर की परिस्थितियों का विशेष योगदान रहा है। सामाजिक गतिशीलता बढ़ने से राज्य ने अपना काम केवल कर वसूलने और कानून व्यवस्था को बनाये रखने तक सीमित नहीं रखा बल्कि व्यक्ति के 'कल्याण' से सरोकार रखते हुए उसका दायित्व भी सम्भाल लिया तो 'कल्याणकारी राज्य' का उदय हुआ। यूरोप के ब्रिटेन को प्रथम आधुनिक कल्याणकारी राज्य कहा जाता है।

मैकाइबर अपनी पुस्तक 'मार्डन स्टेट' में कल्याणकारी राज्य के बारे में बताते हैं कि ''कल्याणकारी राज्य का ध्येय ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है जिससे राज्य की छत्रछाया में आकर सर्वसाधारण अभाव व असुरक्षा से पीड़ित न रहे, उनके स्वास्थ्य की रक्षा हो और उनकी कुशल क्षेम बनी रहे।''

उल्लेखनीय बात यह है कि यूरोप के विपरीत भारत में राज्य के लोककल्याणकारी स्वरूप की अवधारणा प्राचीन काल से विद्यमान थी, प्राचीन भारतीय राज्य का लक्ष्य जनता का योग–क्षेम था। प्राचीन भारत में राज्य से सम्बन्धित विद्या हेतु अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिसमें 'दण्डनीति' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों का साधन ही इस विद्या का तात्विक आशय है, यथार्थतः दण्डनीति व्यक्ति एवं समष्टि राज्य एवं समाज के समन्वय का योगस्थल है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में (1.4) उद्धरण मिलता है–

''आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनों दण्डः।
तस्य नीति दण्डनीतिः।।''

बी0आर0आर0 दीक्षितार के अनुसार 'प्रजानां योग क्षेमः' राजा का एकमात्र कर्त्तव्य है।[2] ए0 एस0 अल्तेकर भी मानते हैं कि ''वैदिक काल से 600 ई0पू0 तक प्रजा का सर्वांगीण कल्याण ही राजा का मुख्य लक्ष्य माना जाता था।''[3] ऋग्वेद में राष्ट्र के भौतिक सुख एवं समृद्धि में वृद्धि करना एवं विकास कार्य राजा का कर्तव्य बताया गया है।[4] मनुस्मृति में वर्णित है कि राजा का व्यवहार जन कल्याणकारी होना चाहिए।[5] इसी तरह मनुस्मृति, नारदस्मृति एवं शांतिपर्व में प्रजारक्षण राज्य का प्रथम दायित्व बताया गया है।[6]

इसके अलावा याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, विष्णुधर्मसूत्र एवं मत्स्यपुराण आदि में विद्यार्थियों, विद्वानों, ब्राह्मणों व याज्ञिकों को संरक्षण प्रदान करना राजा का प्रमुख दायित्व बताया है।[7] देखा जाय तो यह प्राचीन कालीन राजाओं के बढ़ते दायित्वों का परिचायक है, जब राज्य ने सांस्कृतिक विकास का दायित्व भी ग्रहण किया। इसके साथ ही असहायों, वृद्धों, विकलांगों, विधवाओं, अनाथों एवं गर्भवती स्त्रियों की सहायता करना राजा या राज्य का दायित्व तत्कालीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में बताया गया है।

आधुनिक युग में मानवीय अधिकार एवं न्याय देने के लिए विधिशास्त्र और संविधान जो कार्य कर रहे हैं, प्राचीनकाल में वहीं कार्य स्मृतियां करती रही है। राजधर्म को लोकधर्म का पर्याय बताते हुए प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मानवीय बौद्धिक एवं नैतिक धरातल पर 'लोककल्याणकारी राज्य' की आधारशिला रखी थी, साथ ही औचित्य, न्याय और समता पर आधृत अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्धारण किया था। आज से कई हजार वर्ष पहले भारत के चिंतक मनीषी ऐसे राजनीतिक आर्थिक निष्कर्षों तक पहुंच चुके थे जो काफी लम्बे समय बाद पश्चिम के विद्वानों की विचार परिधि में आये।[8]

डा0 जायसवाल के अनुसार हिन्दूओं द्वारा की गयी संवैधानिक प्रगति को मात देने की बात तो दूर उसकी बराबर भी अन्य कोई प्राचीन सभ्यता नहीं कर सकती।[9] हम अपनी प्राचीन संस्कृति पर गर्व कर सकते हैं, क्योंकि जो पश्चिमी सभ्यता आज अपने कुछ सौ वर्ष पूर्व के अतीत पर अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करता है एवं अपने राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विरासत पर इतराता है, वहीं हमारी सभ्यता में हजारों वर्ष पूर्व यह श्रेष्ठता पल्लवित एवं पुष्पित हो रही थी। हालांकि वर्तमान समय में देखा जाय तो हर देश अपनी प्रजा के लिए अनेकों–अनेक लोक कल्याणकारी योजनायें बनाता है, परन्तु भारत जैसे देशों में ये योजनायें पूर्ण रूप से फलीभूत नहीं हो पाती एवं ये सही पात्र तक पहुँचते–पहुँचते भ्रष्टाचार रूपी दानव का शिकार बन जाती है। सच्चाई तो यह है कि आज भारत की अधिकांश लोककल्याणकारी योजनायें कागजी खानापूर्ति के माध्यम से सफल दिखाई जाती है। इसका प्रमुख कारण लोगों में अशिक्षा, उदासीनता एवं साथ ही साथ सरकारी कार्य संस्कृति का रूप ले चुका भ्रष्टाचार है। इसके विपरीत प्राचीनकालीन राजाओं की निरंकुशता बढ़ने पर तत्कालीन प्रजा अपने अधिकारों का प्रयोग करती थी। ''जो राजा जनता को सताता है, जनता उसका जीवन एवं राज्य दोनो छीन सकती है। जनता को सभी प्रकार के कष्टों से रक्षा पाने का अधिकार है।''[10]

राजा भी अभिषेक समारोह में अपनी प्रजा के सम्मुख यह प्रतिज्ञा करता था कि ''यदि मैं तुम्हें पीड़ित करता हूँ तो उत्पन्न होने और मरने के बीच की अवधि में किए गए समस्त पुण्य स्वर्ग, जीवन और वंश नष्ट हो जाये।''[11]

निष्कर्षतः प्राचीन भारतीय राज्यव्यवस्था में लोककल्याण के लिए आवश्यक वे सभी प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिनकी आशा हम उन्नत से उन्नत शासनतंत्र से करते हैं। दस्तुतः लोककल्याण करने वाला कोई तंत्र नहीं, कोई शासन प्रणाली नहीं अपितु राज्य के भारवाहक थे। भारतीय नृपतंत्र का उद्देश्य लोक में सद्व्यवस्था और सदाचार विधान था, स्वार्थ सिद्धि और प्रजादोहन या शोषण नहीं।[12]

सन्दर्भ–

1. याज्ञवल्क्यस्मृति – 1–1–7
2. बी0आर0आर0 दीक्षितार–हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन्स, पृ0103
3. ए0 एस0 अल्तेकर – स्टेट एण्ड गवर्नमेन्ट इन एन्शियण्ट इण्डिया
4. ऋग्वेद – 7/4/7 एवं 10/114/10
5. मनुस्मृति– 8/1
6. मनुस्मृति (7/144) नारदस्मृति (प्रकीर्णक–33) शांतिपर्व (68/1–4)
7. याज्ञवल्क्यस्मृति(1/315,323)मनुस्मृति (7/82,134) कौटिल्य (2/1) विष्णुधर्मसूत्र (3/79–80) मत्स्यपुराण (215/58)
8. डा0 प्रतिभा आर्य– स्मृतियों में राजनीति और अर्थशास्त्र
9. के0 पी0 जायसवाल – हिन्दू पॉलिटी– पृ0–366
10. केवल मोटवानी–मनु धर्मशास्त्र पृ0 137–139
11. के0पी0 जायसवाल – हिन्दू राज्यतंत्र प्र पृ0 46–47
12. डा0 कामेश्वरनाथ मिश्र – महाभारत में लोककल्याण की राजकीय योजनायें – पृ0–227

*शोध छात्र (इतिहास विभाग)
म0गां0 का0 विद्यापीठ, वाराणसी।

भ्रष्टाचार
अव्यवस्था
अराजकता
बेरोजगारी

ऐसी तमाम विसंगतियों एवं विडंबनाओं के विरुद्ध आज हर व्यक्ति के मन में आक्रोश है। इसकी सार्थक अभिव्यक्ति है

आपकी पत्रिका–

आग्रह

सूचना का, सत्य का

काशी जनसूचना फाउण्डेशन

कार्यालय :
निकट पंजाब नेशनल बैंक, प्लाट नं. 9,
प्रफुल्ल नगर कॉलोनी, लंका, वाराणसी–221005
दूरभाष : 8756044045
E-mail : kashijansuchana@gmail.com / kjsf70@yahoo.com

मनुस्मृति में वर्ण-व्यवस्था

साधना दुबे

प्राचीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक पद्धतियों के ज्ञान के लिए स्मृतियों का महत्वपूर्ण स्थान है। स्मृतियों में मनुस्मृति का महत्व सर्वत्र स्वीकृत है। क्योंकि अन्य सभी स्मृतियाँ इससे अत्यन्त प्रभावित हैं। हिन्दुओं का विधिविषयक साहित्य तीन भागों में बाटॉ जा सकता है – धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र और टीकायें।

इन तीनों में धर्मशास्त्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है और सम्पूर्ण धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में मनुस्मृति सर्वातिशायी है।

मनुस्मृति में वर्ण–व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वृञ वरणें' अथवा वरी धातु से हुई है। जिसका अर्थ है चुनना या वरण करना। वर्ण और वरण शब्दों में साम्य भी है। संभवतः वर्ण से तात्पर्य वृत्ति से है। किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। वास्तव में वर्ण उस सामाजिक वर्ण की ओर इंगित करता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है, जो अपनी इन्ही विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गो अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है तथा अपने हितों और स्थितियों के विषय में जागरूक होता है।

आर्य–वर्ण और दास–वर्ण अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र वर्ण–व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं जो कालान्तर में केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के रूप में वर्ण–व्यवस्था में रह गए। वर्ण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जो पूर्व वैदिक युग की समाज–रचना के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करता है उसमें वर्ण का प्रयोग रंग अथवा आलोक के अर्थ में है[1] तथा यत्र–तत्र ऐसे वर्गो के लिए भी वर्ण का व्यवहार हुआ है, जिनके शरीर की त्वचा श्याम थी अथवा श्वेत। तत्कालीन समाज में दो ही वर्ण थे एक आर्य और अनार्य या दास (अथवा दस्यु)[2]। आर्य सदाचरण और सद्वृत्तियों का अनुसरण करने वाले थे तथा दास दुर्वृत्तियों, अनियमितताओं और अव्यवस्थाओं को उत्पन्न करने वाले थे। आर्य बाहर से आये थे। उन्होनें हड़प्पा संस्कृति के निवासियों को पराजित किया और दास बनाया। अतः स्पष्ट रूप से आर्य और दास नामक दो वर्ण समाज में हो गये जिनका वैदिक योग के प्रारम्भिक काल तक पृथक अस्तित्व बराबर बना रहा।

वर्ण–व्यवस्था का उद्भव कैसे और किन परिस्थितियों में हुआ, यह विचारणीय विषय है। इसकी उत्पत्ति में कौन सा आधारभूत सिद्धान्त मूल रूप से कियाशील था, यह भी उल्लेखनीय है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, वर्ण–व्यवस्था का विकास धीरे–धीरे इतिहास की घनाओं के सन्दर्भ में हुआ। इसे पूर्ण रूप से विकसित होने में सहस्त्रों वर्ष लगें। सभी वर्णो के कर्मों और कर्त्तव्यों को निर्धारित करने में अपार बृद्धि और विवेक की सहायता ली गई। विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्य निर्धारण में गुणात्मकता, व्यवसायत्मकता, वैज्ञानिक पद्धति और समाज की आवश्यकता का प्रधानतः ध्यान रखा गया।

सभी वर्ण के लोग अपने–अपने कर्मो को निर्बाध गति से स्वच्छन्दता और निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर सके इसके लिए धर्म की सहायता ली गई। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था के उत्पत्ति सम्बन्धी कई प्रकार और कई रूपों में विकसित हुए।

प्राचीन धर्मशास्त्रों में वर्णों की उत्पत्ति ईश्वरकृत अथवा दैवी मानी गई है तथा उनके विभाजन को आदरपूर्वक पवित्र माना गया है। भारतीय धार्मिक साहित्य, मनुस्मृति में सम्पूर्ण मानव समुदाय को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीनों को द्विजाति एवं शूद्र वर्ण को एक जाति कहा गया है। इस कथन से मनु की दृष्टि में वर्ण–व्यवस्था जन्मना मान्य है[3]। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में वर्ण–सम्बन्धी उत्पत्ति के विवरण को स्वीकार किया गया है। इसके वर्णन के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरूष से हुई थी। उसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरू (जॉघ) से वैश्य तथा पाद (पैर) से शूद्र उत्पन्न हुए[4]। यह सृष्टिकर्ता अथवा विराट् पुरूष हजार सिर, हजार ऑखों और हजार पैरों वाला था, जो भूत और भविष्य दोनों था और जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी[5]। अतः ऐसे विशाल ईश्वर से चारों वर्णों की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मणों की उत्पत्ति मुँह से इसलिए कहीं गई कि उनका समस्त कार्य मुँह से सम्बन्धित था अर्थात शिक्षा और विद्या प्रदान करना। क्षत्रियों को बाहु से इसलिए उत्पन्न माना गया कि उनका सभी प्रमुख कार्य देश की सुरक्षा व प्रशासन आदि, बाहु से आबद्ध था बाहु शक्ति और शौर्य का परिचायक माना गया है और शरीर में उसकी स्थिति प्रमुख है। वैश्यों का जॉघ से उद्भव इसलिए स्वीकार किया गया है कि उनका प्रमुख कार्य समाज की आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ करना था। जिस प्रकार शरीर के लिए जॉघ की अनिवार्यता थी उसी प्रकार समाज के लिए वैश्यों की। इसी प्रकार शूद्रों की उत्पत्ति पैर से इसलिए कही गई कि अपनी सेवा द्वारा वे तीनों वर्णो और समाज को गति प्रदान करते थे। पैर का प्रमुख कार्य है शरीर के ऊपर के भार को वहन करना और शरीर को गतिमान रखना।

ऋग्वेद के पूर्ववर्ती काल में समाज में तीन वर्णो ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्य का ही उल्लेख हुआ है। पहले दो वर्ण कवि–पुरोहित और वीर–नामक के व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करते हैं और तीसरा वर्ण सामान्य लोगों का समूह था, जिससे समाज के शेष लोग सम्मिलित थे। ऋग्वेद के उत्तरवर्ती काल में ये तीन वर्ण चार वर्णों में विकसित होकर सुदृढ़ हो गये। यद्यपि यह कहा जाता है कि पुरूषसूक्त फलतः परवर्ती रचना है, वर्ण–व्यवस्था ऋग्वैदिक न होकर परवर्ती काल की सामाजिक व्यवस्था है[6]। इस काल के अन्त तक वर्णों के सामान्य कर्म का प्रतिपादन हो चुका था। ब्राह्मण वर्ण ने तो निश्चय ही जाति के सभी लक्षणों को प्राप्त कर लिया था यह सही है कि मात्र ऋग्वेद का ही साक्ष्य इसका प्रमाण नहीं, किन्तु इस रचना में यत्र–तत्र ब्राह्मण को मिथ्या दावा उपस्थित करते हुए जाना जा सकता है[7]। मनु ने यह उल्लेख किया है कि ब्रह्मा ने लोकवृद्धि के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को कमशः मुख, बाहु, जंघा और चरण से उत्पन्न किया[8]। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत वर्णों का एक–दूसरे वर्ण से सम्बन्ध उनका एक दूसरे से उच्च स्थान तथा उनके विभिन्न निश्चित कर्मों का नियोजन है। जिससे भारतीय समाज में उनकी ऐतिहासिकता तथा कार्यप्रणाली का पता चलता है। तत्कालीन समाज का वर्णों में बँटा हुआ वर्गीकरण तथा व्यावहारिकता के आधार पर सुनिश्चित कार्य विभाजन इसकी अपनी मौलिकता है।

सामाजिक व्यवस्था में कर्म का सिद्धान्त अपना विशेष महत्व रखता है। विभिन्न वर्णों के अलग–अलग कर्म निर्धारित थे अथवा कर्म के ही आधार पर वर्णों का वर्गीकरण हुआ था। वैदिक युग के अत्यन्त प्रारम्भिक काल में जो लोग विद्या, शिक्षा, तप, यज्ञ, धार्मिकता आदि में अधिक रूचि रखते थे, वे ब्राह्मण वर्ण के अन्तर्गत गृहीत किए गए। ऐसे लोगों का मुख्य कर्म अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन और तप था। जो वर्ण शासन–संचालन और राज्य–व्यवस्था में योग देता था तथा जिसका प्रधान कर्म देश की रक्षा, प्रशासन आदि था वह राजन्य (क्षत्रिय) वर्ण से सम्बन्धित किया गया। पशुपालन, कृषि और व्यापार जिसका प्रधान कर्म था, वह वैश्य वर्ण का माना गया। समाज के तीनों वर्णों की सेवा और परिचारक वृत्ति करने वाला वर्ण शूद्र का कहा गया। इस प्रकार वर्णों के प्रधान कर्म थे, जिनके आधार पर इनका उद्‌भव हुआ था। मनु ने भी राजा के मंत्रियों में ब्राह्मण, मंत्री नियुक्त करने का उल्लेख किया है जो प्रशासन में सहायक होता था। उसके अनुसार राजा उन मंत्रियों में से विद्वान, धर्मादि युक्त विशिष्ट एक ब्राह्मण मंत्री के साथ षड्‌गुण से युक्त श्रेष्ठ मंत्र की मंत्रणा करता था तथा उस पर पूर्ण विश्वास कर उसे सब कार्य सौप देता था एवं उससे परामर्श और निश्चय कर कार्य आरम्भ करता था।

वेदों का प्रचार और प्रसार ब्राह्मणों से ही था। समाज के समस्त धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन कर्ता ब्राह्मण ही था। ब्राह्मण की स्थिति समाज में सर्वोच्च थी। उसकी यह सर्वोच्चता उसके ज्ञान और विद्वता के कारण थी। वैदिक युग से ही उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा थी।

मनु के अनुसार जाति की विशिष्टता से उत्पत्ति स्थान (ब्रह्मा के मुख) की श्रेष्ठता से अध्ययन–अध्यापन एवं व्याख्यान आदि के द्वारा नियम (श्रुति–स्मृति–विहित–आचरण) के धारण करने से और यज्ञोपवीत संस्कार आदि की श्रेष्ठता से सब वर्णों में ब्राह्मण ही वर्णों का स्वामी माना जाता था[9]।

ऋग्वैदिक काल के प्रथम चरण में आर्य और दास नामक दो वर्ग अथवा वर्ण थे। इन दोनों वर्णों का विभाग आचारमूलक, व्यवहारमूलक और कर्ममूलक था। दोनों के भिन्न–भिन्न कर्म थे। ऋग्वेद में एक स्थल पर कहा गया है कि समस्त विश्व को आर्य बनाओं[10]। महाभारत में उल्लिखित है कि सर्वप्रथम केवल ब्राह्मण ही समाज में थे, बाद में अपने कर्तव्यों की विभिन्नता के कारण समाज में कई वर्ण हो गए[11]।

पुराणों में भी कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है तथा यह माना गया है कि पूर्वजन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए[12]। समाज मे ब्राह्मण का स्थान सर्वोच्च विराट् पुरूष के मुख से उत्पन्न होने के कारण उसकी विशिष्टता स्वयं सिद्ध थी। पृथ्वी पर सर्वप्रथम उसकी उत्पत्ति हुई और तदन्तर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र।

क्षत्रियों की स्थिति भारतीय धार्मिक समाज में ब्राह्मण के बाद थी किन्तु उनका मान ब्राह्मण से कम नहीं था। देश और समाज की रक्षा–व्यवस्था का भार क्षत्रियों पर ही था। अपने युद्ध कौशल और प्रशासन से वे समाज को रक्षित और पोषित करते थे। ऋग्वेद में उन्हें 'क्षत्र' से सम्बन्धित किया गया है जिसका अर्थ शौर्य और पराकम से है[13]।

यद्यपि उस युग में क्षत्रिय वर्ण जन्मना न होकर कर्मणा ही था तथापि युद्ध और शौर्य से सम्बद्ध वर्ण को क्षत्रिय (राजन्य) वर्ण के रूप में गृहीत किया गया। सभी का शास्त्रकार वर्णानुकूलं कर्म की प्रशंसा करते है तथा इसी से व्यक्ति, परिवार और समाज का उत्कर्ष मानते हैं। उन्होंने व्यावहारिकता को दृष्टिगत करके परिस्थितियों की प्रतिकूलता पर भी विचार किया है। इसलिए आपत्तिकाल में उसके लिए जीविकोपार्जन के निमित्त अन्य वर्णों के कर्म अनुपालित करने का भी निर्देश दिया गया। क्षत्रिय को आपद्‌धर्म के अन्तर्गत वैश्य कर्म अपनाने की सलाह दी गई। किन्तु उसे हिंसा–प्रधान, कृषि–कर्म करने की अनुमति नहीं थी।

वैश्य के लिए 'पाणिनी' ने आर्य शब्द का प्रयोग किया है। समाज में वैश्यों का स्थान कमानुसार तीसरा था। व्यापारिक व्यवस्था और कृषि का समस्त भार उसके ऊपर था राज्य और देश की आर्थिक स्थिति उसी के सत्प्रयास से सुदृढ़ होती थी। अर्थ–सम्बन्धी नीतियों का सारा संचालन वैश्य वर्ग करता था। अध्ययन, यजन और दान उसका परम कर्त्तव्य था 'कौटिल्य' के अनुसार उसका प्रधान कर्म था अध्ययन करना, यज्ञ करना तथा दान देना, वैश्य का प्रमुख ध्येय था धनार्जन करना। 'मनु' का कथन है कि पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना, कृषि करना, वैश्वों का प्रधान कर्म था[14]। कौटिल्य ने उसे अध्ययन, यजन और दान करने की भी अनुमति प्रदान की है[15]।

समाज में शूद्र का स्थान अत्यन्त निम्न था हेमचन्द्र ने शुद्रों के छः नाम निर्दिष्ट किए है – शुद, अन्त्यवर्ण, वृबल, पद्यः, पज्जः और जघन्य[16]। वह पतित और हेय माना जाता था[17]। मनु ने शुद्र के अन्तर्गत विभिन्न देशी और विदेशी तत्वों को सम्मिलित किया था, जिससे यह वर्ण समुचित रूप से सबल हो गया था। मनु का कथन है कि श्रद्धायुक्त होकर अपनी अपेक्षा नीच व्यक्ति (शूद्र) से भी उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिए[18]। शुद्र पूर्णरूपेण द्विजों की दया पर निर्भर करते थे। उसका सर्वोत्कृष्ट कर्म द्विज वर्ण की सेवा करना था। मनु ने विपत्तिग्रस्त शूद्र के लिए विभिन्न उद्योग–धन्धे अपनाने का निर्देश किया है। आपत्तिकाल में शूद्र, वैश्य वर्ण के कार्य अपना सकता था। सम्भवतः अलबीरूनी ने वैश्यों और शूद्रों को समान श्रेणी का समझा है। मनु ने चार वर्णों के अतिरिक्त पॉचवे को अस्तित्वहीन माना है।

वर्ण–व्यवस्था के मूल में कर्म का सिद्धान्त अत्यधिक प्रभावशाली था। वस्तुतः वर्ण–व्यवस्था के प्रारम्भिक स्वरूप का निर्माण कर्म के ही मार्ग पर हुआ। इसका उदय और विकास कर्म के सिद्धान्त पर अपेक्षाकृत अधिक अवलम्बित था। विभिन्न–वर्णों के कर्म और कर्त्तव्य मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं बल्कि पारिवारिक और सामाजिक जीवन को भी उन्नत करते रहे है। समाज का सुव्यवस्थित और सुगठित रूप वर्णों के निर्धारित कर्मों से ही पुष्ट और सुस्थ होता रहा है। विभिन्न वर्णों के प्रतिपाद्य, कर्म, वर्ण, धर्म के नाम से समाज में अवस्थित हुए तथा सामाजिक जीवन के प्रधान अंग बन गए। वर्णों की उत्पत्ति जन्म से भी मानी गई है। ब्राह्मण परिवार में जन्मा व्यक्ति अयोग्य और अज्ञानी होकर भी पूजनीय माना जाता था तथा चारों वर्णों में श्रेष्ठ समझा जाता था।

इस प्रकार वर्ण का आधार जन्म माना गया है न कि कर्म। मनु ने चार वर्णों के अतिरिक्त पॉचवें को अस्तित्वहीन माना है।

सन्दर्भ–

1. ऋग्वेद 1.73.7, 2.3.5, 9.97.15, 9.104.4, 9.105.4, 10.124.7
2. वही, 2.2.4 यो दासं वर्णमधरं गुहा कः।
3. मनुस्मृति 10.4 " ब्राह्मण, क्षत्रियों वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः। चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।।"
4. ऋग्वेद 10.90.12 ब्राह्मणोऽस्य मुखासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।

5. वहीं 10.90.12.1 सहस्त्रशीर्षा पुरूषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात। पुरूष एवेदं सर्व सद्भूतं यच्च भव्यम्।।
6. दत्त ओरिजिन ऐंड ग्रोथ ऑव कास्ट इन इंडिया, 1 पृ0 31
7. ऋग्वेद 10.71
8. मनुस्मृति 1.31, लोकानां तु विवृदध्यर्थ मुखबाहू रूपादतः। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यं, शूद्रं च निरवर्न्तयत्।।
9. मनुस्मृति 10.4
10. ऋग्वेद 9.63.5 कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम्।
11. महाभारत, शान्तिपर्व, 188.10 न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्व ब्रह्ममिदं जगत्। ब्राह्मणाः पूर्वसृष्टं हि कर्मभिवर्णतां गतम्।।
12. ब्रह्माण्ड पु0 27.133, वायु पु0 8.140–41

ब्राह्मणां क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा द्रोहिजनास्तथा। भविताः पूर्वजातीषु कर्मभिश्च शुभाशुभैः।।

13. ऋग्वेद 8.35.16–18, 1.157.2
14. मनुस्मृति 10.83 वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु, ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा। हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्।।
15. अर्थशास्त्र 3.7 वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं।
16. अभिधान चिन्तामणि 3.894 शूद्रोऽन्त्यवर्णो वृषलः पद्म पंजोजघन्यजः।
17. विस्तार के लिए देखिए, शर्मा शूद्राज इन ऐशिएंट इंडिया।
18. मनुस्मृति 2.238 श्रद्धधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि। अन्त्यादपि परं धर्म स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।।

*शोध छात्रा (संस्कृत)
का.न.रा.स्ना.महा.विद्यालय
ज्ञानपुर, सं0र0न0, भदोही

अद्वैत वेदान्त में वृत्ति-महात्म्य

शशि भूषण भट्ट*

अद्वैत वेदान्त में आध्यात्मिक स्वरूप के सूक्ष्म अध्ययनार्थ वृत्ति निरूपण अत्यन्त उपादेय है। वस्तुतः वेदान्त की समस्त व्यावहारिक एवं अलौकिक क्रियाओं के सम्पादन का मूल आधार वृत्ति है , इसी कारण वेदान्त दर्शन में वृत्ति का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वृतु वर्तने+क्तिन् इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न वृत्ति शब्द का शाब्दिक अर्थ है – अस्तित्व , कोई विशेष स्थिति या अवस्था। अन्तःकरण के परिणाम विशेष को वृत्ति संज्ञा प्रदान की गई है। वृत्ति को मूलतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– बाह्य विषयों से सम्बन्धित वृत्ति और अहं बह्मास्मि के रूप में अखण्डाकाराकारित वृत्ति। विभिन्न आचार्यों ने वृत्तिस्वरूपविषयक विवेचन किया है–

आचार्य शंकर– अन्तःकरण के परिच्छेद का किसी भी सीमा में आकर तदाकार होना वृत्ति है। नित्यस्वरूपचैतन्यत्त्वे प्राणाद्यनर्थत्त्वमिति चेन्न गन्धादिविषयविशेषपरिच्छेदार्थत्त्वात्।[1]

स्वामी विद्यारण्य–अन्तःस्थाधी अर्थात् बुद्धि इन्द्रिय द्वारों से बारम्बार बाहर आती है, वही वृत्ति है।[2]

अन्तःस्थाधी सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः।

स्थूल विषयों से सम्बन्धित वृत्ति– सिद्धान्तलेशसंग्रहकार के अनुसार जिसप्रकार तालाब का जल तालाब के किसी एक छिद्र से निकलकर कुल्यवत् लम्बायमान होकर क्षेत्र के केदारों में प्रविष्ट होकर क्षेत्रानुरूप त्रिकोण चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है, उसीप्रकार तैजस अन्तःकरण भी अतिशीघ्रतापूर्वक नेत्रादि इन्द्रियों के माध्यम से निकलकर घट पटादि विषयदेशों को प्राप्त करता हुआ तदाकाराकारित हो जाता है यह आकार या परिणाम ही वृत्ति है।[3] अन्यत् वेदान्तपरिभाषाकार का भी कथन प्राप्त हैं।

"तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान्प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिद्वार निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।"[4]

अन्तःकरण की इस वृत्ति के संशय, निश्चय, गर्व तथा स्मरण ये चार भेद हैं।

"सा च अन्तःकरणवृत्तिश्चतुर्विधा संशयो निश्चयो गर्वतिः स्मरणामि।"

वृत्ति के भेद से अन्तःकरण एक होते हुए भी मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार भेद से चतुर्विध होते हैं। यथोक्तम्

"मनोबुद्धिरहंकारचित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।।[5]

वृत्ति की उपयोगिता– वस्तुतः वेदान्त दर्शन में आत्मा के स्वरूपभूतज्ञान को नित्य स्वीकार किया गया है और वही समस्त विषयों का प्रकाशक भी है, क्योंकि निखिल प्रपंच का अधिष्ठान बह्मचैतन्य में कथित प्रपंच का सदैव सम्बन्ध होने के कारण स्वरूप ज्ञान द्वारा ही विषय प्रकाशित हो जाता है। फलतः प्रकृत स्थल पर भी वृत्ति की सत्ता का आक्षेप उठता है। इसके निवारणार्थ ही सिद्धान्त पक्ष में विभिन्न मत स्वीकृत हैं। सिद्धान्तलेशसंग्रहकार ने वेदान्तशास्त्र में वृत्ति प्रयोजन के निम्न तीन प्रमुख मत स्वीकार किए हैं[6]–

प्रथम पक्ष :

वृत्ति का प्रयोजन आवरणाभिभव– वेदान्तपरिभाषाकार का कथन है

"सा च अन्तःकरणवृत्तिरावणाभिभवार्थत्येकं मतम्।[7]

अन्यत् भी प्राप्त होता है–

"अथवा सवर्गऽविद्यावृत्तेऽसौ न प्रकाशते।
बुद्धावनावृतो वृत्तिभग्नावरणभासकः।।[8]

किसी भी वस्तु का आवरण अविद्याशक्ति विशेषकृत होता है। यथा– घटज्ञान के पूर्व घट अज्ञात अज्ञान से आवृत रहता है। फलतः घट का ज्ञान नहीं होता है। इसी आवरण की नाशिका अन्तःकरण की वृत्ति है तथा यही इसका प्रयोजन है। यतः अविद्योपहित चैतन्य जीव व्यापक होने से घटादि विषय देश में सदैव विद्यमान रहता है, अतः घटादि ज्ञान की सदैव उपस्थित रहेगी, जो कि वस्तुतः किसी को भी न इष्ट है और न ही अनुभवसिद्ध है। अतएव घट एवं जीवगत चैतन्य दोनों के मध्य एक आवरण को मानना पडेगा, जो कि अज्ञान है, यह अज्ञान मूलाविद्या पर आधृत है, जिससे घटादि ज्ञान की सदैव उपस्थितिरूपी दोष का परिहार हो जाता है। यदि इस अज्ञानरूपी आवरण की सदैव उपस्थिति रहेगी तो घट ज्ञान की कभी उपलब्धि न होगी, एतदर्थ इस आवरण के विनाशार्थ अन्तःकरण की वृत्ति स्वीकार की गई है।यतः इस आवरण का विनाश न तो चैतन्य और न ही उपाधि द्वारा सम्भव है। तथा चैतन्य को आवरण का नाशक नही स्वीकार कर सकते, क्योंकि यदि वह चैतन्य अज्ञान का भासक हो तो वह उसकी निवृति कदापि नहीं कर सकता है तथा उपाधि को नाशक स्वीकार करने पर परोक्षस्थल में भी आवरण निवृत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा , अतएव अन्तःकरण की वृत्ति को स्वीकार किया गया है।

प्रथम पक्ष की आलोचना : वृत्ति के द्वारा अविद्या के आवरणाभिभव के विषय में भी सिद्धान्त पक्ष में अनेक मत–मतान्तर प्राप्त होते हैं। यथा कुछ प्रमुख मत निम्न हैं–

प्रथम मत : इस मत में जिसप्रकार अन्धकार में जुगनू के प्रकाश से छिद्र होता है, उसीप्रकार ज्ञान से अज्ञान के एकदेश में चटाई के समान अज्ञान का वेष्टन या भीत योद्धा के समान पलायन होता है ,यही आवरणाभिभव है। यथोक्तम्–

"खद्योतेनेव तमसश्छिद्रं केचित् प्रचक्षते।
कटवद्वेष्टनं भीतभटावद्वा पलायनम्।।"[9]

द्वितीय मत : इस मत में आवरण भंग अज्ञान का एकदेशीय विनाश न होकर, वृत्तिकालपर्यन्त विषयावच्छिन्न चैतन्य का आवरण न रहना ही है।[10]

तृतीय मत : इस मत के अनुसार जितने ज्ञान हैं, उतने ही अज्ञान भी हैं, अतः एक अज्ञान के नष्ट होने की स्थिति में वृत्ति से अवस्थारूप अज्ञान का विनाश ही आवरण भंग है।[11]

चतुर्थ मत : इस मत के अनुसार समस्त ज्ञान सदैव आवरण युक्त नहीं रहते। जिस काल में जो अज्ञान जिस वस्तु का आवरण करता है, तद् वस्तुज्ञान द्वारा ही उस अज्ञान का नाश होता है।[12]

पंचम मत : आनन्दपूर्ण विद्यासागर के मत में किसी एक ज्ञान द्वारा किसी एक अज्ञान का नाश होता तो है, परन्तु इतर आवरक अज्ञानों का तिरस्कार नही होता है, अतएव अन्य धारावाहिक

वृत्तियों द्वारा अज्ञान का नाश होता है। इस प्रकार प्रथम पक्ष में वृत्ति का कार्य आवरण शक्ति का उच्छेद, तूलाज्ञान का विनाशादि है, यही इस मत में वृत्ति की उपयोगिता है।

द्वितीय पक्ष : सम्बन्धार्था वृत्ति– इस मत में विषय के साथ जीव के सम्बन्धार्थ वृत्ति स्वीकृत है–

"सम्बन्धार्था वृत्तिरित्यपरं मतम्"।[13]

यद्यपि अविद्या उपाधि वाला जीव व्यापक है, अतः विषय प्रदेश में सदैव विद्यमान रहता है, तथापि जबतक घटादि विषयाकारावृत्ति नही बन जाती, तब तक घटादि का ज्ञान उसे नहीं होता। विषयाकारावृत्ति दशा में वह विषय से सम्बन्धित होकर विषय का प्रकाशक बनता है अतः विषय के साथ सम्बन्धार्थ वृत्ति स्वीकार की गई है। वस्तुतः जीव अविद्या से उपहित चैतन्य होने से व्यापकभूत समस्त दृश्य प्रपंच से सम्बन्धित रहता है, लेकिन जिस सम्बन्ध विशेष द्वारा घटादि का भान होता है वृत्ति विरहदशा में उसका अभाव रहता है, सामान्य सम्बन्ध का नहीं। अन्तःकरण में चैतन्य की अभिव्यक्ति सदैव होती है, क्योंकि अन्तःकरण स्वच्छ द्रव्य है इसी कारण वह जीव चैतन्य की अभिव्यक्ति में स्वतः समर्थ होता है। अतएव अहं इस वृत्ति में जीव चैतन्य सदैव भसता है। वहीं जीव घटादि प्रदेशस्थ भी है, किन्तु घटादि प्रदेशों में जीवचैतन्य की सदा अभिव्यक्ति नहीं होती, क्योंकि घटादि मलिन प्रधान होने से स्वतः प्रदेशस्थ चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं कर पाते है अतः इस अभिव्यक्ति की योग्यता घटादि में वृत्ति सम्बन्ध के अनन्तर उत्पन्न होती है। आशय यह है कि घटाकार वृत्ति का घट के साथ संयोग होने पर सर्वप्रथम वृत्ति के द्वारा घटादि के जाड्य का नाश होता है, तत्पश्चात् घट में चैतन्याभिव्यक्ति की योग्यता आती है। इस प्रक्रिया द्वारा घटादि जीवचैतन्य को प्रकाशित करते हैं और जीव को घटज्ञान होता है। विवरणकार प्रकाशात्मयति का कथन है

अन्तःकरण हि यथा स्वस्मिन्निव स्वसंसगर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयतीति।

अन्यत् जिस प्रकार गोत्त्व जाति के व्यापक होने पर भी उसका गोत्त्व व्यक्ति से ही सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार जीव के व्यापक होने पर भी उसका अन्तःकरण से ही सम्बन्ध रहता है, किन्तु जीव का अन्तःकरण की वृत्तियों के उपर आरूढ होकर अन्य विषयों के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है।[14]

द्वितीय पक्ष की आलोचना : आलोचक विद्वानों का कथन है कि विषयचैतन्य का वृत्तिजन्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि क्रियारहित विषयचैतन्य का वृत्ति द्वारा तादात्म्य या संयोग नही हो सकता। तादात्म्य इस कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह पूर्व से ही विद्यमान रहता है मध्य में इसकी स्थापना कदापि नहीं हो सकती। तथा संयोग भी नही हो सकता, क्योंकि संयोग एक या उभय की क्रिया से उत्पन्न होता है, किन्तु प्रकृत स्थल में जीवचैतन्य व विषयचैतन्य स्वभावतः निष्क्रिय है, अतः सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता है। इस दोष के परिहार के सम्बन्ध में अनेक मत प्राप्त होते है। कुछ प्रमुख निम्न है

प्रथम मत : जिस प्रकार नैयायिक विषयविषयीभाव सम्बन्ध स्वभाव से ही स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार वृत्ति से विषयविषयी भाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है।[15]

द्वितीय मत : इस मत में विषयसंयुक्त तादात्म्य ही वृत्ति द्वारा उत्पन्न होता है।[16]

तृतीय मत : जिस प्रकार तरगं के स्पर्श से वृक्ष में नदी का स्पर्श होता है, उसी प्रकार विषय में वृत्ति के सम्बन्ध से जीव का सम्बन्ध होता है।[17] फलतः वृत्ति का यह सम्बन्धार्थ प्रयोजन सिद्ध होता है।

तृतीय पक्ष : अभिव्यजंनार्थ वृत्ति– अविद्या प्रतिबिम्बित जीव चैतन्य के व्यापक होने पर भी विषय के साथ सम्बन्धार्थ वृत्ति का निरूपण किया गया है। प्रकृत स्थल में अन्तःकरण उपाधि वाले परिच्छिन्न जीवपक्ष में भी विषय के सम्बन्धार्थ वृत्ति को स्वीकार किया है।[18]

यतः ब्रह्मचैतन्य घटादि व्यावहारिक विषय का उपादान कारण है अतः उसका कार्यजगत् के साथ नित्य सम्बन्ध है, जबकि जीवचैतन्य घटादि विषय का उपादान कारण नहीं है अतः घटादि विषयों के साथ उसका सम्बन्ध सदैव नही है। अतएव घटादि विषय का ब्रह्म अधिष्ठानचैतन्य के साथ अभेद हेतु वृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है। अभेदाभाव में जीव विषय का प्रकाशन नहीं कर पाता अतः इनके अभेद सम्बन्ध की सम्पादिका वृत्ति ही है।

एक अखण्ड चैतन्य में उपाधि भेद तभी तक होते हैं, जब तक वे भिन्न देशस्थ हैं। यथा– अन्तःकरण शरीरस्थ है, घटादि विषय बाह्य देशस्थ है अतः दोनों से उपहित चैतन्य में भी भेद होता है, किन्तु जब नेत्र के मार्ग से अन्तःकरण की वृत्ति निकलकर विषय देश में विषयाकार परिणाम को प्राप्त करती है तब अन्तःकरण, जो कि वृत्ति का आश्रय परिणामी है वह भी तद्देशस्थ हो जाता है। फलतः वृत्ति, वृत्ति का आश्रय अन्तःकरण व उसका विषय घटादि तीनों एकदेशस्थ हो जाते हैं फलतः इन तीनों उपाधियों से उपहित चैतन्य में अभेदाभिव्यक्ति होती है अतः इसी के हेतु अद्वैत वेदान्त में वृत्ति की सत्ता स्वीकार की गई है। सिद्धान्तलेशसंग्रकार का कथन है–

"यद्वा अन्तःकरणोपाधिर्जीवो वृत्त्या बहिर्गतः।
विषयब्रह्मचैतन्याभेद व्यक्ताऽर्थभासकः।।[19]

इस अभेदाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में भी अनेक मत प्राप्त होते है।

प्रथम मत : जिस प्रकार नाली द्वारा तालाब और खेत के जल का एकीभाव, अभेदाभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विषयावच्छिन्नचैतन्य व अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य का जो वृत्ति द्वारा एकीभाव है, वही अभेदाभिव्यक्ति है।[20]

द्वितीय मत : जिस प्रकार कौस्तुभ मणि या किसी रत्न की आभा अपने स्थान से निकलती हुई बड़े आकार में परिणत होकर विषयदेशपर्यन्त गमन करती है, उसी प्रकार हृदयदेशस्थ अन्तःकरणवृत्ति अन्तःकरण से विषयपर्यन्त अविच्छिन्न रूप से गमन करती है तथा यही वृत्ति का विषय के साथ सम्बद्ध भाग में ब्रह्म के प्रकाशक प्रतिबिम्ब के साथ जीव का एक होना ही अभेदाभिव्यक्ति है।[21]

इसप्रकार अद्वैत वेदान्त में वृत्ति का माहात्म्य दृष्टिगोचर है। वृत्ति अभाव में विषयज्ञान तथा वेदान्त की अद्वैतता का भी प्रसंग खण्डित होगा फलतः वृत्ति को स्वीकार किया गया है।

अहं ब्रह्मास्मि वेदान्त वृत्ति का स्वरूप व उसकी उपयोगिता–

अहं ब्रह्मास्मि इत्याकारक अन्तःकरण की अखण्ड वृत्ति का उदय तत्त्वमसि महावाक्य के श्रवण से उत्पन्न होता है। जब ब्रह्मज्ञानी गुरु अध्यारोपापवादन्याय द्वारा जिज्ञासु को तत्त्वमसि के तत् व त्वम् पदार्थों का भलीप्रकार निरूपण कर अखण्डार्थ का अवबोधन करा देते है, तो अधिकारी के हृदय में

अखण्डाकाराकारित चित्तवृत्ति का उदय होता है।[22]

इस वृत्ति के सम्बन्ध में एक शंका उपस्थित होती है कि जड चित्तवृत्ति नित्य–शुद्ध–बुद्ध–मुक्त स्वरूप ब्रह्म को अपना विषय कैसे बना लेती है, इसका उत्तर अद्वैती सदानन्द द्वारा प्राप्त होता है चित्तवृत्ति शुद्ध ब्रह्म को अपना विषय नही बनाती, वरन् अज्ञानविशिष्ट प्रत्यकभिन्नविषयिणि होती है। जब उसमें चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है तो प्रत्येक् चैतन्यगत अज्ञानावरण का अभिभव होता है इस तरह अज्ञानावरण को दूर करना ही अहं ब्रह्मास्मि इस चित्तवृत्ति के उदय का परिचायक है। फलतः अखण्ड चैतन्य वृत्ति के उदय होते ही प्रत्येक् चैतन्यगत अज्ञान का विनाश व उसके कार्यभूत प्रपंच का भी बाध उसी प्रकार होता है जिस प्रकार तन्तुरूप कारण के जलने पर पटरूपी कार्य का भी विनाश हो जाता है। फलतः अन्तःकरण अखण्डाकार के परिणाम को प्राप्त करता हुआ स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है।

सन्दर्भ–

1. अद्वैत वेदान्त : इतिहास एवं परिशीलन – डा0 राममूर्त्ति शर्मा पृ0 31960
2. पंचदशी 10,17
3. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 62
4. वेदान्त परिभाषा प्रथम परिच्छेद पृष्ट 9 बम्बई सस्करण 1989
5. वेदान्त परिभाषा प्रत्यक्ष परिक्षेद
6. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 65
7. वेदान्त परिभाषा विषय परिच्छेद
8. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 64
9. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिछेद कारिका – 73
10. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 74
11. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 75
12. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका –80
13. वेदान्त परिभाषा विषय परिच्छेद
14. सिद्धान्तलेश संग्रह प्रथम परिछेद कारिका– 62
15. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद पृष्ठ 146. भारतीय बुक कोरपोरेशन दिल्ली 2005
16. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 66
17. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 67
18. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 68
19. सिद्धान्तलेश संग्रह प्रथम परिछेद ,पृष्ठ–151
20. सिद्धान्तलेश संग्रह प्रथम परिछेद कारिका – 63
21. सिद्धान्तलेशसंग्रह प्रथम परिच्छेद कारिका – 70
22. वेदान्तपरिभाषा भावबोधिनी टीका चौखम्बा, विद्याभवन प्रकाशन, सन् 2002 पृष्ठ– 81

*शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

काश्मीर शैवागम में 'स्पन्द-सिद्धान्त' का दार्शनिक विवेचन

ऋषिका वर्मा*

इस सृष्टि के पदार्थों को देखकर एक चिन्तक के मन में भाव उत्पन्न होता है कि इस सृष्टि की रचना कैसे हुई। यह संसार कहाँ से आया। ऐसी जिज्ञासा वेदों में भी प्राप्त होती है। ऋग्वेद जो कि आदि ग्रन्थ माना जाता है, उसमें भी इसी प्रकार के प्रश्न उपलब्ध हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों ने भिन्न–भिन्न मत का प्रतिपादन किया है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार्वाक स्वभाववाद एवं भौतिकवाद का समर्थक है। न्याय–वैशेषिक परमाणुवाद का प्रतिपादन करता है। सांख्यदर्शन विकासवाद एवं अद्वैतवेदान्त मायावाद की स्थापना करता है।

भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में आगम–साहित्य का महत्त्वपूर्ण योगदान है। काश्मीर शैव दर्शन आगम साहित्य का सबसे प्रधान दर्शन है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में आगम साहित्य में भी काश्मीर शैव दर्शन सृष्टि की व्याख्या के लिए 'स्पन्द–सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया गया है। शिव किसी कमी की पूर्ति के लिए अथवा किसी प्रयोजन के लिए सृष्टि नहीं करता वरन् जब आनन्द से स्पन्दित होता है तो सृष्टि–क्रिया स्वाभाविक रूप से फूटती है। इसमें शिव की कोई विवशता नहीं है, यह शिव की पूर्ण स्वातन्त्र्य–क्रिया है। दूसरे शब्दों में सृष्टि शिव का स्पन्द अथवा लीला विलास है, शिव अपने आनन्द में स्पन्दित होकर सृष्टि–क्रिया के रूप में नाचता है अथवा खेल खेलता है।

उपनिषद् में भी यही माना गया है कि सृष्टि ब्रह्म के आनन्द से होती है (आनन्दाद् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते) दूसरे शब्दों में, उपनिषद् में 'स्पन्द' की अवधारणा वर्तमान है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तान्त्रिक या आगम–साहित्य में जो क्रिया या स्पन्द का मूल सिद्धान्त है वह उपनिषद् में भी वर्तमान है। हाँ, उपनिषद् में वह लगभग बीजरूप में या सूत्ररूप में है उसका पल्लवन नहीं हुआ है। यह काम तन्त्र या आगम ने किया है। यह कहना चाहिए कि उपनिषद् के अधूरे काम को तन्त्र ने पूरा किया है।[1] सृष्टि के कारण के रूप में परमशिव की ही एकमात्र सत्ता काश्मीर शैव दर्शन में है। अपने अन्दर स्वरूप में ही निहित अद्भुत शक्ति के माध्यम से वही स्वयं को ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट करता है तथा विभिन्न अवस्थाओं को धारण करने पर भी वह अपने यथार्थ स्वरूप से च्युत नहीं होता है।[2] सृष्टि और प्रलय शिव की क्रीड़ा है जिसे उसके विमर्शरूपता का उन्मेष और निमेष कहा जाता है।[3]

काश्मीर शैव दर्शन में एक ही तत्त्वातीत 'परम शिव' की सत्ता को स्वीकार किया गया है, जो इस दृश्यमान जगत् में अन्तर्बहिः सर्वत्र प्रकाशित होता रहता है। यही ऐसा तत्त्व है जिससे सृष्टि का विकास होता है। यह सारी सृष्टि उसी से उत्पन्न होती है और फिर उसी में विलीन हो जाती है। परमशिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ सर्वत्र स्फुरित होता है, उससे अन्यथा कुछ भी नहीं है।[4] इसके अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना तक नहीं की जा सकती।[5] अपनी व्यक्तावस्था में भी जगत् शिव से भिन्न नहीं होता, उसकी प्रतीति मात्र भिन्न होती है, क्योंकि यह सारा जगत् उसी का लीलाविलास है और वही सबका प्रकाशक है।[6] यह परमशिव ही परम कारण है।[7] यह सारा जगत् हर समय शिवमय बना रहता है।[8] अतः यह सर्व–आकृति–स्वरूप है।

काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सृष्टि करता है। इस सृष्टि को करने में उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं रहता, अपितु यह उसका स्वभाव है। शैव दर्शन में भी अन्य दर्शनों जैसे अद्वैत वेदान्त की तरह अज्ञान और माया का स्थान है, परन्तु इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह उस परमतत्त्व के अधीन है। इनके रहने और न रहने से, परमशिव के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता। इस स्वातन्त्र्य स्वभाव के ही कारण शैव दार्शनिकों ने उसे पूर्ण स्वतन्त्र आनन्दघन परम ईश्वर कहा है।[9] इसी प्रकार स्वेच्छावश लीला–अभिनय करने के कारण ही शिवसूत्र में उसे नर्तक कहा गया है।[10] जगत् का अपने अन्दर आभासन और फिर उस आभासित जगत् का अपने अन्दर विलापन ही उसका स्वातन्त्र्यरूप कर्तृत्व है।[11]

सृष्टि परमशिव का आत्म–प्रसार है। न तो कुछ उसके अलावा है और न ही उससे भिन्न। उससे ही सभी पदार्थ आविर्भूत होते हैं और फिर उसी में विलीन भी हो जाते हैं। सृष्टि शिव का उन्मीलन मात्र है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जब उसकी इच्छा होती है तो उसी में से वह बाह्य प्रकट हो जाता है।[12] यहाँ विश्व के बाह्य प्रकट होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह एकदम से बाहर निकल जाता है या उससे अलग हो जाता है, बल्कि यह है कि जो विश्व शिव में अव्यक्त रहता है वह व्यक्त हो जाता है अथवा उसकी अभिव्यक्ति होने लगती है। शिव स्वयं को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। अपनी व्यक्तावस्था में भी जगत् शिव से भिन्न नहीं होता, इसकी प्रतीति मात्र भिन्न होती है। जगत् सदैव शिवमय बना रहता है।[13]

परमशिव स्वयं में परिपूर्ण है। उसे अन्य किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं हो सकती। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि उसे सृष्टि करने की आवश्यकता ही क्यों पड़ी अथवा नानावैचित्र्य सम्पन्न इस सृष्टि को करने में उसके क्या उद्देश्य निहित हो सकते हैं। सृष्टि स्वयं में एक कार्य है। कार्य या तो किसी निमित्त के लिये होता है अथवा स्वभावतः। अपने को अभिव्यक्त करना परमशिव का स्वभाव है। अपने स्वभाव के कारण ही वह विश्व का आभास करने में पूर्णतः निरपेक्ष है।[14] उसके स्वभाव के सम्बन्ध में प्रश्न करना अग्नि की दाहकता पर प्रश्न करना होगा। जलना अग्नि का स्वभाव है और उसके इस स्वभाव में निमित्त नहीं खोजा जा सकता। अतएव जैसे दहकता अग्नि का स्वभाव है उसी प्रकार विश्व का आभास करना परमशिव का स्वभाव है।[15] परमशिव का यह स्वतन्त्र स्वभाव ही उसकी पंचकृत्यकारी क्रीड़ा है, जिसका उद्देश्य उसके स्वात्म–उल्लास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि–प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण माना गया है; क्योंकि शिव को यहाँ 'पंचकृत्यकारी'[16] माना गया है। यह पंचकृत्य उसका स्वभाव है। इन पंचविधकृत्यों में वह निरन्तर संलग्न रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि सृष्टि भी शिव का स्वाभाविक कृत्य है जो सदैव होता रहता है। अतः यह सृष्टि उसके स्वरूप में ही अनुस्यूत है। यह सृष्टि शिव की क्रीड़ा है और इस ऐश्वर्य की क्रीड़ा के लिए वह अपनी स्पन्द शक्ति से पूर्ण समर्थ है। स्पन्दवान् परमशिव के स्पन्द का उल्लासरूप यह समस्त विश्व उसकी परमेश्वरता का ही एक अंग है। सब कुछ

परमेश्वर है और परमेश्वर में ही सब कुछ है। सृष्टि करना शिव का कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिए यह पंचकृत्य उसका स्वभाव है।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि–प्रक्रिया को शिव का स्वरूप लक्षण मानने का एक कारण यह भी है कि परमशिव में शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व का एक साथ स्फुरण होता है और इन दोनों के बीच अभिन्न और अविनाभाव सम्बन्ध है।[17] यहाँ पर सृष्टि को शक्ति रूप अथवा शक्ति का विकास माना जाता है।[18] ऐसी स्थिति में सृष्टि को शिव का स्वरूपलक्षण मान लेना स्वाभाविक है। शैव दार्शनिकों की यह मान्यता है कि परमशिव की शीलता उसकी ज्ञानात्मकता है और शक्तितता, क्रियात्मकता और शिवतता उसकी स्थिरता है और शक्तितता गतिशीलता। शिव की शक्ति को काश्मीर शैव दार्शनिक दो भागों में विभाजित करते हैं–पहले भाग में वे चित्त और आनन्द शक्ति को शिव की स्वरूपशक्ति मानते हैं और दूसरे भाग में इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति को शिव की शक्ति मानते हैं। यहाँ पर शिव के द्वारा जो सृष्टि की जाती है वह चित् और आनन्द से न होकर इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्ति के माध्यम से होती है, जो शिव के स्वातन्त्र्य पर पूर्ण रूप से निर्भर रहती है। वह सृष्टि को अपनी इच्छा से संचालित करता रहता हैं।

शिव बिना किसी प्रयोजन के सृष्टि करता है, किन्तु शैव दर्शन के सृष्टि विचार में कई समस्याएँ उत्पन्न होती है, यथा– किस प्रकार निरपेक्ष तत्त्व (शिव) सापेक्ष हो जाता है अथवा किस प्रकार चित् जड़रूप हो जाता है, किस प्रकार सत्य आभास हो जाता है इन समस्याओं के समाधान में काश्मीर शैव दार्शनिक अपना 'स्वातन्त्र्यवाद' प्रस्तुत करते हैं। शिव के स्वातन्त्र्य द्वारा सब कुछ संभव हो जाता है।[19] काश्मीर शैव दर्शन में परमशिव को स्वतन्त्र–स्वभाव के रूप में जाना जाता है। यह सृष्टि भी उसके स्वतन्त्र स्वभाव का परिचायक है। वह हर प्रकार के आन्तरिक और बाह्य बाध्यता से मुक्त होकर मात्र आत्मविलास के वशीभूत होकर सृष्टि करता है। उसे किसी प्रकार की बाह्य बाध्यता इसलिए नहीं है कि वह एकमात्र पूर्ण सत्ता है, उसे किसी कार्य के लिए दूसरे पर निर्भर नहीं रहना पड़ता और आन्तरिक बाध्यता भी नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण है और उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है।[20] अतः वह हर प्रकार की बाध्यता से मुक्त होकर अपने मौज में जब चाहता है तब सृष्टि करता है जब नहीं चाहता है तब संहार करता है। इसलिए काश्मीर शैव दार्शनिकों ने स्वातन्त्र्यवाद को विशेष महत्त्व दिया है।

काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि शिव का लीला विलास है। इस दर्शन के अनुसार परमशिव ही नाना प्रकार की विचित्रताओं के साथ सर्वत्र स्फुरित हो रहा है। परमशिव का स्पन्दरूप आनन्द उसके अपने ही परमेश्वरता के विलास का विमर्शरूप है।[21] इस स्वात्म आनन्द में सदा विभोर रहता हुआ परमशिव आनन्द में स्पन्दमान रहता है और उसका यह आनन्द–स्पन्दन ही विश्व बन जाता है।[22] वह अपने स्पन्द–स्वातन्त्र्य से विभिन्न विचित्र रूपों में प्रकाशित होकर भी वस्तुतः अविचित्र होकर अकेला ही रहता है। सृष्टि और प्रलय शिव की क्रीड़ा है जिसे उसके विमर्शरूपता का उन्मेष और निमेष कहा जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि काश्मीर शैव दर्शन में सृष्टि–प्रक्रिया पूर्ण रूप से शिव के स्वभाव पर आश्रित है। उसे इस क्रिया को करने के लिए न किसी प्रकार का बंधन है और न किसी प्रकार का दबाव। इस क्रिया के लिए वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र रहता है। वह किसी उद्देश्य के वशीभूत होकर भी सृष्टि नहीं करता। वह केवल अपनी स्पन्दात्मक गतिशीलता के कारण अनन्त–अनन्त रूपों में अभेद से भेदाभेद में और वहाँ से पूरे भेद में अनन्त–अनन्त प्रकारों से उतरता ही रहता है और विपरीत क्रम से अनन्त वैचित्र्यमयी लीला के द्वारा भेद से भेदाभेद पर और वहाँ से अभेद पर चढ़ता है। अतः शिव सृष्टि में और सृष्टि में शिव सर्वदा आभासित होता रहता है और यह सृष्टि प्रक्रिया चलती रहती है।

सन्दर्भ–

1. काश्मीर शैव दर्शन के मूल सिद्धान्त, डॉ. कैलाशपति मिश्र, पृ0 15
2. स्पन्दकारिका, पृ0 2–4
3. स्पन्द निर्णय, पृ0 4
4. शिवदृष्टि, अ0 4 ।5
5. स्वच्छन्दतन्त्र टीका, भाग–6, पृ0 29
6. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 1 ।1 ।2
7. शिव परमकारणम् । –तन्त्रालोक, आ0 1 ।88
8. शुद्धं तत्त्वं परमशिवाख्यं तत्र यदा विश्वमनुसन्धत्ते तन्मयमेव तदा। –शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ0 35
9. स भगवान् अनवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थी महेश्वरः। –ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–विवृत्ति विमर्शिनी, भाग–1, पृ0 31
10. शिवसूत्र, 3 ।9
11. तन्त्रालोक, भाग–6, आ0 9 ।22
12. यथान्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः। तथा हृदयबीजस्थः विश्वमेतच्चराचरम्। क्षेमराज (पराप्रवेशिका)
13. शुद्धं तत्वं परमशिवाख्यं तत्र यदा विश्वमनुसन्धते तन्मयमेवतत। –शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ0 35
14. एवं स्वभावत्ववादेव च अस्य न अत्र परापेक्षा इति। तन्त्रालोक टीका, भाग–9, पृ0 13
15. तथाभासन योगोऽतः स्वरसेनास्थ विजृम्भते। तन्त्रलोक, अ0 15 ।266
16. बोधपंचदशिका, श्लोक–6
17. शिवदृष्टि, 3 ।2–3
18. शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः। तन्त्रलोक, भाग–3, आ0 5 ।40
19. तस्य स्वातन्त्र्यभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत्। तन्त्रालोक 1–36
20. स एव परानपेक्षः पूर्णत्वादानन्दरूपो यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभरितः। शिवदृष्टि, पृ0 406
21. स्पन्दनिर्णय 3 ।4
22. शिवस्तोत्रावलि, 13–1

*शोध–छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

अपराधीकरण को वैधता मिली

मनोज कुमार द्विवेदी*

"दूसरों पर हुक्म चलाने वाले सभी लोगों को न सिर्फ सामान्य अर्थ में धार्मिक होना चाहिए बल्कि वास्तविक अर्थ में आध्यात्मिक होना चाहिए। उनकी अतंरात्मा पवित्र हो ताकि वे अपने अधिकार का उपयोग जनता की भलाई, उनकी सेवा के लिए कर सकें। देश चाहे जितनी तरक्की कर ले, चारित्रिक विकास के बिना वह महान नहीं हो सकता। हमें एक महान राष्ट्र का महान नागरिक बनना है न कि एक महान राष्ट्र में तुच्छ व्यकि बने रहना है।"

हमारे राजनीतिक जीवन में आज ऐसी स्थिति आ गई है जहाँ आपराधिक छवि वाले लोगों को उच्च पद देकर लाभान्वित करने में थोडी सी भी हिचकिचाहट नहीं रह गई है और अपराधियों से राजनीतिज्ञों को अलग करने वाली बारीक लकीर भी लुप्त हो गई है। आपराधीकरण वैधता हासिल करती जा रही है। समाज में आपराधिक रिकार्ड अब कोई बर्जना नहीं है। इन सब बातों की पराकाष्ठा तब हुई जब आपराधिक आरोपों का सामना कर रहे एक ऐसे व्यक्ति को देश का गृह राज्य मंत्री नियुक्त किया गया जिस पर भारतीय दंड संहिता के तहत गंभीर आरोप था। देश की आंतरिक सुरक्षा और कानून व्यवस्था बनाए रखने के मामले में गुह मंत्रालय काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कुछ साल पहले जाने–माने लेखक वेल्स हेगेन ने अपनी पुस्तक 'आफ्टर नेहरु, हूँ? (1962)' में तत्कालीन गृहमंत्री लाल बहादुर शास्त्री का जिक्र करते हुए लिखा था कि इस देश का गृहमंत्री ऐसा व्यक्ति है जो :

"खुफिया तंत्र के विशाल नेटवर्क वाले करीब पांच लाख पुलिस कर्मियों को नियंत्रित करता है। वह अंततः 44 करोड़ 30 लाख लोगों के जीवन की रक्षा करता है और उसके कल्याण की सोचता है। गृहमंत्री के बिना भारत एक भौगोलिक अभिव्यक्ति भर है।"

देश में सर्वोच्च राजनीतिक पदों पर राजनीति के आपराधीकरण को स्वीकार करने की एक संस्कृति 1980 के बाद पैदा हुई। 1998 के आम चुनावों के पहले चुनाव आयोग ने घोषणा की थी कि जनप्रतिनिधित्व कानून के तहत आपराधिक मामलों में सजायाफ्ता व्यक्ति को चुनाव लड़ने के लिए आयोग्य करार दिया जायेगा भले ही मामले में अपील अदालत में लंबित हो। चुनाव आयोग का यह स्टैंड कानूनन वैध है लेकिन ऐसा लगता है कि इस बारे में चुनाव आयोग की नींद काफी देर से खुली है। 1979 के अंतिम दिनों में संजय गांधी और विद्याचरण शुक्ल को चुनाव लड़ने की इजाजत दी गई जबकि दिल्ली के एक सत्र न्यायालय ने इन दोनों नेताओं को आपातकाल के दौरान 'किस्सा कुर्सी का' की फिल्म सामग्री को नष्ट करने के लिए आपराधिक षडयंत्र रचने तथा इसके परिणामस्वरूप अन्य आरोपों के सिलसिले में दो वर्ष की संजा दी थी। उनकी अपील उच्चतम न्यायलय में लंबित थी। फिर भी उन्हें चुनाव लड़ने की इजाजत दे दी गई।

चुनावों के बाद 1980 के शुरु में जब इंदिरा गांधी भारी बहुमत से दोबारा सत्ता में आई तो संजय गांधी काफी शक्तिशाली हो गए और वे अपने आप में कानून बन गए थे। उन्होंने आतंक कायम कर दिया था। उन्होंने ऐसे नौकरशाहों और केन्द्रीय जांच ब्यूरों के अधिकारियों को प्रताड़ित और अपमानित करना शुरु कर दिया जिन्होंने जनता सरकार के दौरान उनके या उनकी माँ श्रीमती इंदिरा गांधी के खिलाफ कार्रवाई करने की हिम्मत की थी। दूसरी ओर, अदालत के फैसले एवं टिप्पणियों को दरकिनार करते हुए ऐसे लोगों को पुरस्कृत ओर सम्मानित किया गया जिन्होंने संजय गांधी या इंदिरा गांधी का साथ दिया था। इसका एक स्पष्ट उदाहरण सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के एक पूर्व सचिव का है। 'किस्सा कुर्सी का' मामले में अदालत में पेश उनके सबूत पर विश्वास नहीं किया गया था। अदालत ने कहा था कि उन्होंने सच्चाई को छिपाने का प्रयास किया था। इसके अलावा ये अधिकारी सर्वोच्च न्यायालय में एक गलत हलफनामा दायर करने के लिए झूठी शपथ लेने में पार्टी बनने के भी अभियुक्त थे। इसके चलते इस फिल्म की सामग्री मुख्य न्यायाधीश तथा खंडपीठ के अन्य सदस्यों को दिखाने के लिए उपलब्ध नहीं हुई। फिर भी उन्हें उड़ीसा से लाकर पहले केन्द्रीय सचिव नियुक्त किया गया और बाद में उन्हें एक राज्य का राज्यपाल बना दिया गया। एक अन्य नौकरशाह बीएस त्रिपाठी के खिलाफ अदालत ने प्रतिकूल टिप्पणियां की थी। सत्र न्यायाधीश ने अपने फैसले में इस अधिकारी के आचरण पर टिप्पणी करते हुए कहा था–

"ये खंडन काफी हदतक अभियोजन पक्ष के प्रति विरोधी रुख और विद्याचरण शुक्ल के प्रति उनकें रुझान का संकेत देते हैं। जिनसे एक गवाह के रुप में उनकी साख खराब होती है। उन्होंने उसी तरह के कृतार्थ करने वाले उत्तर दिये हैं जैसे घोष ने दिए है। इससे इस बात में कोई संशय नहीं रह जाता कि विद्याचरण शुक्ल में उनकी गहरी दिलचस्पी है।"

इस सबके बावजूद उन्हें प्रधानमंत्री के कार्यालय में संयुक्त सचिव नियुक्त किया गया और उच्च पदों पर होने वाली नियुक्तियों सहित पुलिस विभाग से जुड़े मामले देखने का जिम्मा सौंपा गया। अदालत ने जिस एक घोष की निन्दा की थी उन्हें कैबिनेट मंत्री ज्ञानी जैल सिंह का विशेष सहायक बनाया गया। इस तरह तुरन्त मुअत्तली से मुक्त हो गये। श्री घोष के बारे में अदालत नें कहा था "इस निष्कर्ष पर पहुंचने पर मुझे कोई संकोच नहीं है कि श्री घोष का इंकार गढ़ा हुआ, बेईमान और गलत है। इसलिए यह बचाव के लिए लाभदायक नहीं हो सकता' अदालत ने संजय गांधी द्वारा मेरे खिलाफ लगाये गये सभी आरोपों को यह कहते हुए खारिज कर दिया की 'एक मात्र समझदारी वाला निष्कर्ष यही निकाला जाना चाहिए कि ये अभियोग कल्पना की चीज है और गढ़े हुए हैं। पूर्व में जिस दस्तावेज का जिक्र किया गया है उसमें डेविड वायले ने आगे लिखा है 'श्रीमती गांधी जनवरी 1980 में सत्ता में वापस आयीं वह यह तय करने की स्थिति में थीं कि प्रशासन प्रोफेशनल हो या पक्षतापूर्ण .....इस बात पर जोर दें की प्रशासन में प्रोफेशनल जिम्मेदारी बढ़े खास कर आपराधिक न्याय व्यवस्था में और कानून व्यवस्था बनायें रखने में। खेद की बात है कि उन्होंने तत्काल उस प्रशासन को प्रदर्शित किया कि प्रशासन.....सरकार की सेवा करता है न की कानून की.... । देश भर में जनता सरकार ने जिन अफसरों की निन्दा की थी उनका पुर्नवास किया गया। संकेत दिल्ली में जितना स्पष्ट था उतना और कहीं नहीं था। जैसी भिंडर को पुलिस आयुक्त बना दिया गया था। जबकि जनता राज में उनके खिलाफ हत्या का मुकदमा चला था भले ही

सजा नहीं हुई थी।"

बहुत बाद के दिनों में चंद्रशेखर का रवैया इससे मिलता जुलता ही रहा। चंद्रस्वामी के खिलाफ जब मुकदमा चल रहा था। और बबलू श्रीवास्तव के साथ उनके सम्बन्धों सहित कई मामलों में उनके खिलाफ जांच–पड़ताल चल रही थी तो पूर्व प्रधानमंत्री ने इस तथाकथित तांत्रिक का पक्ष लिया। कानपुर से करीब 20 किलामीटर दूर विधूर गेस्ट हाउस में पत्रकारों से बात–चीत करते हुए श्री चंद्रशेखर ने कहा, 'किसी व्यक्ति पर सिर्फ इसलिए मुकदमा नहीं चलाया जाना चाहिए या उसे परेशान नहीं किया जाना चाहिए कि किसी को उसकी ईमानदारी पर शक है या वह उसके खिलाफ हर किस्म के आरोप लगा रहा है।" चंद्रस्वामी के निकट समझे जाने वाले चन्द्रशेखर ने आगे कहा, "मैं उन्हें व्यक्तिगत रुप से जानता हूं। वह इतने डरपोक हैं कि एक मच्छर भी नहीं मार सकते। कुत्ते को मारने की बात छोड़िए।" बाद में जैसे ख्याल आने पर उन्होंने कहा, "सभी आरोपों की जांच होनी चाहिए और सीबीआई इस मामले में भी अपना काम कर रही है।" (दि पायनियर, 11 अक्टूबर 95)।

प्रधानमंत्री पद से हटने के तत्काल बाद पीवी नरसिंहराव को कई आपराधिक मुकदमों सामना करना पड़ा। इनमें झारखण्ड मुक्ति मोर्चा रिश्वत काण्ड, लाखूभाई पाठक धोखाधड़ी मामला, यूरिया घोटाला और सेंट किट्स मामला शामिल है। लगभग इसी समय, अक्टूबर 1996 में एक प्रमुख दैनिक की एक खबर का शीर्षक कुछ इस प्रकार था, "किसी आपराधिक मामले में फसने वाले श्री राव देश के पहले पूर्व प्रधानमंत्री हैं। (दि हिन्दुस्तान टाइम्स– 6 अक्टूबर 96)। इन सबके बावजूद वह अच्छे खासे समय तक कांग्रेस संसदीय दल के नेता बने रहे। यह वही व्यक्ति है जिसने देवगौड़ा के नेतृत्व वाले तीसरे मोर्चे की सरकार को पूर्ण समर्थन देने की घोषणा करते हुए लोक सभा में भाषण दिया था तो विदेश मंत्री इन्द्र कुमार गुजराल ने बड़ी ही गर्म जोशी से इन्हें बधाई दी थी। स्पष्टतः हुए इस समर्थन से काफी उत्साहित थे। उस वक्त सारा देश टेलीविजन पर लोक सभा की कार्यवाही देख रहा था। यही इन्द्र कुमार गुजराल जब प्रधानमंत्री बने तो वे चाहते थे कि जनता ऐसे लोगों का सामाजिक बहिष्कार करे जिनके खिलाफ भ्रष्टाचार के आरोप है। साप्ताहिक पत्रिका आउट लुक ने (14 अगस्त 1997) के अन्त में एक आलेख प्रकाशित किया था जिसका शीर्षक था, "कानून बनाने वाले या तोड़ने वाले"। इस आलेख में चार मंत्रियों सहित 39 सांसदों के नामों का खुलासा किया गया था। जिनके खिलाफ आपराधिक मुकदमें चल रहे थे। यह सही है कि इसमें कुछ आरोप झूठे या राजनीति से प्रेरित हो सकते हैं लेकिन पूरा हाल जानने के लिए हम कुछ मामलों का अध्ययन कर सकते है। इनमें केन्द्र के एक मंत्री, गृह राज्य मंत्री और उनके पुत्र (बिहार में पूर्व राज्यमन्त्री थे)एक प्रमुख राज्य के राज्यपाल और सत्तारुढ़ पार्टी के एक लोक सभा सदस्य के मामले शामिल हैं।

सन्दर्भ–

1. राम कृष्ण मिशन – हैइराबाद के
2. आफ्टर नेहरु हूँ?बेल्स हेगेन
3. दि पायनियर– 11 अक्टूबर 95
4. दि हिन्दुस्तान टाइम्स – 6 अक्टूबर 96

■ ■ ■

*शोध छात्र, पत्रकारिता एवं जन संचार
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

जनसंख्या वृद्धि : समस्या और समाधान

शशि कान्त राय*

आज देश के सामने सबसे बड़ी चुनौती के रूप में जनसंख्या वृद्धि की समस्या है। जनसंख्या वृद्धि की समस्या एक सामाजिक समस्या है। इस समस्या का समाधान देश में सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक क्रांति लाकर ही सम्भव है। भारत की जनसंख्या 1,02,87,37,436 है।[1] एन0एन0एस0ओ0 के चेयरमैन डॉ0 अर्जुन सेन गुप्ता की रिपोर्ट के अनुसार देश की 78 प्रतिशत जनसंख्या 20 रूपया प्रतिदिन पर जिन्दा है।[2] मनरेगा में 100 रूपये मजदूरी है, पर सौ दिन भी सबको काम नहीं मिलता। अगर सौ दिन काम मिल भी जाए तो सलाना कमाई 10 हजार रूपये बैठेगी। जो लगभग 30 रूपये रोजाना होगी, इतनी कम कमाई में आदमी किसी तरह जिन्दा तो रह सकता है पर उसके लिए उन्नति के दरवाजे बन्द ही रहेंगे।[3] यहां सवाल जिन्दा रहने का नहीं है बल्कि जिन्दा रहने के स्तर का है। देश में सभी वर्ग का बुनियादी जीवन स्तर एक समान होना चाहिए पर ऐसा है नहीं। कुछ श्रेष्ठतम है, कुछ की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। हर इंसान श्रेष्ठ जीवन जीना चाहता है पर बुनियादी जीवन स्तर में अन्तर के कारण यह लक्ष्य अभी तक पाया नहीं जा सका, आखिर ऐसा क्यों हुआ, इस पर समाज को चिन्तन मनन करना चाहिए ताकि तरक्की के द्वार सभी के लिए खुल सकें।

आम जनमानस कैसे आन्दोलित हो, इस तथ्य को ध्यान में रखना अति आवश्यक है और इस दायित्व के निर्वहन के लिए संचार माध्यमों द्वारा ऐसे कार्यक्रमों और विज्ञापनों के प्रसारित किए जाने की आवश्यकता है जो जनसंख्या नियंत्रण के उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु आम नागरिक को एकजुट कर सके क्योंकि यदि आम जनता इस संदर्भ में जागरूक नहीं होती तो श्रेष्ठ जनसंख्या नीति होने पर भी कुछ हासिल नहीं होगा। संचार माध्यमों द्वारा लोगों को परिवार नियोजन के लिए इस ढंग से प्रेरित किया जाए कि जनसंख्या नियंत्रण उनकी सोच में हो। इससे भारत की सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक तथा नैतिक समस्याओं के एक बहुत बड़े अंश का समाधान होगा और हम अपने विकास कार्यक्रमों के लक्ष्य को भी स्वतः हासिल कर लेंगे। इस संदर्भ में इलूहा कैट्स जैसे महान विचारक का मानना है कि जनसंख्या नियंत्रण जैसी विचारधारा को सिद्धान्त के रूप में देखा जाए तो उसे बिना आम आदमी में घुलाएं संभव नहीं है।

कुछ इसी तरह की विचाराधारा डेनियल लर्नर ने भी अपनी पुस्तक 'द पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसाइटी' में बताने की कोशिश की है कि परंपरागत समाज, जो रूढ़िवादिता में जकड़ा हुआ है, को आधुनिक बनाने के लिए सबसे पहले उसमें विश्वास अर्जित करना होगा और चमत्कार पैदा करना होगा जिससे जीवन की समग्रता का विकास संभव हो सके अर्थात योजना निर्माताओं को इस बात पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है कि किस प्रकार से रूढ़िवादिता से इसको अलग कर आधुनिकता के आवरण में लपेटा जाए। डॉ0 अनिल उपाध्याय ने भी अपनी पुस्तक 'गांधी और विकास' में इस कार्य के लिए गांधीवादी विचारधारा को प्राथमिकता देते हुए कहा है कि बिना जनसमूह को मुक्त धारा में किए नीतियों का सही–सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।[4]

जनसंख्या नियंत्रण में संचार माध्यमों की भूमिका– यह वर्तमान समय में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय है। खासतौर पर ऐसे समय में जबकि हम 21 वीं सदी में हम एक दशक का समय पूरा करने जा रहे हैं। एक ओर भारत निरंतर बढ़ती जनसंख्या वृद्धि की समस्या से त्रस्त है तो दूसरी ओर संचार के क्षेत्र में हमारा देश विभिन्न ऊँचाइयों को स्पर्श कर रहा है।

जनसंख्या पर नियंत्रण तभी हो सकता है जब आम आदमी जागरूक हो जिससे वह छोटे परिवार के महत्व को समझ सके। जनसंख्या वृद्धि तब तक नहीं रुकेगी जब तक कि इसके लिए सख्त कानून नहीं बनता और उसे उतनी ही सख्ती से लागू नहीं किया जाता। बढ़ती जनसंख्या को नियंत्रित तभी किया जा सकता है जब निम्नलिखित सुझावों पर प्रयास और अमल किया जाए–

1. जागरूकता की आवश्यकता : मध्यम और उच्च वर्ग में जनसंख्या नियंत्रण की उपयोगिता समझी जा चुकी है लेकिन निम्न और श्रमिक वर्ग में अभी भी बड़े परिवार को ही अच्छी कमाई का जरिया समझा जाता है। सरकार के पास भी इन दिनों जनसंख्या नियंत्रण की बातें केवल फाइलों में ही दिखाई दे रही हैं। दुनिया के कई मुस्लिम देशों में भी जनसंख्या नियंत्रिण की जा चुकी है। हमारे देश के अशिक्षित और निम्न वर्ग को छोटे परिवार के महत्व को बताया जाए। बढ़ती जनसंख्या के कारण गरीबी, बेरोजगारी और कुपोषण का सामना करना पड़ रहा है। आर्थिक विकास की उपलब्धियाँ बढ़ती जनसंख्या के पेट में समा जाती हैं। वास्तव में आर्थिक विकास मूलभूत जरूरत है जनसंख्या नियंत्रण का।

2. गरीबी निवारण : जनसंख्या नियंत्रण का एक तरीका गरीबी निवारण भी होता है। आज के दौर में लोगों की आजीविका, स्वास्थ्य, चिकित्सा, जानमाल तथा इज्जत की सुरक्षा हो तो निश्चित रूप से अधिकांश लोग अपने बच्चों की संख्या सीमित रखना चाहेंगे। पर्याप्त आजीविका सुरक्षा तथा स्त्रियों के मानवीय अधिकारों की संतुष्टि उचित जनसंख्या नियंत्रण का कारगर उपाय है।

3. इच्छाशक्ति की जरूरत : यदि बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण पाना है तो राजनेताओं और राजनीतिक दलों में इच्छा शक्ति का होना नितांत जरूरी है। आपातकाल के दौरान परिवार नियोजन पर विशेष ध्यान दिया गया।

4. लोगों का भ्रम दूर करना : परिवार नियोजन कार्यक्रम के अन्तर्गत इस्तेमाल होने वाली तकनीकों के बारे में लोगों को बताने की जरूरत है। नसबंदी, कंडोम, कॉपर–टी सहित अन्य संसाधनों की गुणवत्ता पर विशेष ध्यान जाने की जरूरत है।

5. शिक्षा प्रसार : देश में शिक्षा का द्रुत गति से प्रचार–प्रसार करना भी समस्या के माध्यम का एक आधारभूत उपाय होगा। इससे एक ओर जनसंख्या नियंत्रण में मदद मिलेगी, वहीं देश के उत्पादन को बढ़ाने में भी मदद मिलेगी।

6. विवाह की आयु में वृद्धि : जनवृद्धि के समाधान के लिए बाल–विवाह को समाप्त कर विलम्ब विवाह को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। इसके लिए केवल विवाह की आयु सीमा सम्बन्धी कानून बनाना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका व्यावहारिक क्रियान्वयन जरूरी है।

7. परिवार नियोजन कार्यक्रम का प्रचार : परिवार नियोजन की आवश्यकता तथा महत्व का भरपूर प्रचार किया जाना चाहिए। इसके लिए पत्र–पत्रिकाएं, अखबार, रेडियो, टेलीविजन, वार्ता, गोष्ठियाँ, भाषण–माला आदि माध्यमों का प्रयोग करना लाभदायक होगा।

आज देश की जनसंख्या विस्फोटक स्थिति तक जा पहुँची है। यदि हम उसे तत्काल नियंत्रित करने का प्रयास नहीं करते तो इतिहास हमें कभी माफ नहीं करेगा। आने वाली पीढ़ियाँ हमें कोसेंगी। हम पर वे फख नहीं करेंगी। इक्कीसवीं सदी के भारत को यदि हम एक समृद्ध, खुशहाल और शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो बिना देर किए जनसंख्या विस्फोट के दुष्परिणामों को रोकने के लिए आगे आना होगा। इस दिशा में संचार माध्यम अपनी प्रभावी भूमिका अदा कर सकते हैं। एक प्रभावी संचार नीति के माध्यम से आवश्यक सूचनाओं को जनसामान्य तक पहुंचा करके जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम को सफल बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ–

1. भारत – 2010
2. लोकायत पाक्षिक पत्रिका में प्रकाशित राकेश कुमार मौर्य का लेख, (16–30 सितम्बर 2010), पेज–27
3. वही
4. गांधी और विकास – डॉ0 अनिल उपाध्याय

*शोध छात्र (पत्रकारिता एवं जनसंचार)
उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
ईमेल–rai.sk03@gmail.com

पर्य्यउत्पादन एवं उसका उत्सर्जन : समस्या एवं समाधान

प्रशान्त कुमार स्तालिन*

सारांशिका : आधुनिक युग में विश्व के समस्त देशों में विकास की एक स्पष्ट प्रतिस्पर्धा दिखाई दे रही है जो अनेकों प्रकार की औद्योगिक इकाईयाँ स्थापित करता जा रहा है। इन औद्योगिक इकाईयों द्वारा बड़ी मात्रा में रासायनिक, प्राकृतिक तथा जैविक उत्सर्जन होता है जिसके परिणामस्वरूप पर्यावरणीय असंतुलन की स्थिति पैदा हो गई है। पुनरूत्पादन प्रक्रिया में कुछ ऐसी वस्तुएँ बनाई जाती है जिनका उपयोग केवल एक बार ही सम्भव है। ऐसी वस्तुएँ का बहुत बड़ा अम्बार खड़ा होता जा रहा है जो कि पर्यावरणीय अशुद्धता के लिए जिम्मेदार है। पेयपदार्थ के उत्पादन में लगी औद्योगिक इकाईयों द्वारा भूजल स्तर इतना नीचे होता जा रहा है कि मानव तथा उसके जीवनोपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में बाधा उत्पन्न होने लगी है। शहरों में आबादी घनत्व का बढ़ना भी पर्यावरणीय अशुद्धता में सहायक है। ग्रामीण अशिक्षित जनता भी अपने क्रिया कलापों तथा अपने पशुओं द्वारा उत्सर्जित पदार्थ की समुचित व्यवस्था कर पाने में असमर्थ है। धार्मिक क्रिया–कलापों द्वारा उत्सर्जित पदार्थ भी पर्यावरणीय अशुद्धता में सहायक है जो आज वैज्ञानिक रूप से सत्यसिद्ध किया जा चुका है। यातायात के साधनों में प्रयुक्त पारम्परिक ईंधन द्वारा वातावरण प्रदूषित हो रहा है। औद्योगिक इकाईयों द्वारा आयुध सामग्रियों का भंडारण इतना अधिक कर लिया गया है जो कि पूरे मानव समुदाय तथा पर्यावरण के लिए घातक है।

आज मानव समुदाय के सम्मुख पर्यावरणीय असंतुलन एक प्रमुख समस्या के रूप में समस्त जीवों को नाश करने के लिए विशालकाय दैत्य के समान प्रकट हो गई है। यदि समय रहते मनुष्य इस समस्या का उचित समाधान के लिए व्यापक प्रयास नहीं किया गया तो सम्पूर्ण मानव समुदाय को काल के गाल में जल्द ही समा जायेगा। प्रस्तुत लेख में पर्यावरणीय अशुद्धता को दूर करने हेतु कुछ समाधानों का उल्लेख किया गया है। जिनका अगर सही ढंग से अनुपालन किया जाय तो पर्यावरणीय अशुद्धता को दूर किया जा सकता है और आने वाली पीढ़ी को अक्षुण्य बनाया जा सकता है। अतः प्रत्येक मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य बनता है कि वह अपने तथा अपने आस–पास के वातावरण शुद्ध बनाये रखने में अपना अहम योगदान दें।

आधुनिक युग में उन वस्तुओं का उत्पादन मनुष्य के उपभोग से भी ज्यादा पैदा करने की एक स्पष्ट स्पर्धा दिखाई पड़ती है। अतः पुनरूत्पादन में आज उपभोग के लिए नहीं अपितु उससे विनिमय मूल्य प्राप्त करने के लिए अनवरत प्रयास किये जा रहे हैं। इसी को विक्रय वस्तु अथवा पर्य्य कहा जाता है। इस पर्य्य के उत्पादन में हमारा भारत भी पीछे नहीं है। पर्य्य में उपभोग मूल्य के साथ–साथ विनिमय मूल्य भी मौजूद रहता है। अतः कोई भी पर्य्य उपभोग से बाहर नहीं पुनरूत्पादित किया जा सकता है। इस उपभोग की सामग्री की अधिकता के कारण मानव के लिए अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। जैसे अन्न, वस्त्र तथा उपयोगी वस्तुएँ उसके विनिमय मूल्य के स्थायित्व के लिए अनेक जगहों पर फेंक दी जाती हैं, पानी में प्रवाहित की जाती हैं तथा जला दी जाती हैं जिससे दुनियाँ में आर्थिक मन्दी तथा पर्यावरणीय प्रदूषण का प्रकोप बढ़ जाता हैं। यहाँ पर भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा बहुत बृहद् पैमाने पर औद्योगिक इकाइयाँ खड़ी की जा रही हैं। औद्योगिक कम्पनियाँ अधिकाधिक लाभ कमाने की दृष्टि से उद्योगों की स्थापना करती जा रही हैं। अतएव बहुत बड़े औद्योगिक इकाई के लिए कच्चा माल, औजार या उपकरण, उपकरण को चलाने वाली ऊर्जा तथा अधिकाधिक श्रम की आवश्यकता पड़ रही है। ऐसे में रासायनिक प्राकृतिक तथा जैविक उत्सर्जन अवश्यम्भावी है। जैसे–जैसे औद्योगिक इकाईयाँ बढ़ती जा रही हैं, वैसे–वैसे उन इकाईयों से प्राप्त अपशिष्ट तथा उत्सर्जन मानव जीवन के लिए विषघोल उगलती जा रही हैं।

पुनरूत्पादन में अब कुछ ऐसी भी चीजें निर्माण की जा रही हैं जो जीवन में एक बार उपयोग में आने के बाद मनुष्य दोबारा उपयोग में नहीं लेता है। अतः इन अनुपयोगी सामनों का हमारे सम्मुख एक विशाल अम्बार खड़ा हो रहा है। जिसके लिए बहुत ज्यादा जगह तथा पर्यावरणीय अशुद्धता का विस्तार बढ़ता जा रहा है। जैसे प्लॉस्टिक की विभिन्न प्रकार की सामानें जो उपभोग के बाद उनमें रासायनिक परिवर्तन न होने से नष्ट नहीं हो पा रहीं हैं।

औद्योगिक इकाईयों में बहुत सारे पर्य्य के पुनरूत्पादन के बाद भी अधिक मात्रा में अपशिष्ट छोड़ दे रही हैं जो दुबारा उपयोग में न तो वे औद्योगिक इकाईयाँ ले जा रही हैं और न तो अन्य इकाईयाँ भी उपयोग में ले पा रही हैं। ऐसी दशा में ये अपशिष्ट भी मानव को असमय ही कालकवलित करने के लिए तत्पर हैं। ये औद्योगिक इकाईयाँ जल में बहुत सारे रासायनिक तत्वों को घोलकर के नदियों में उत्सर्जन कर रही हैं। इससे जल में रहने वाले तमाम जीवों का नाश तो होता ही है, साथ में बाहर रहने वाले तमाम जीव, वनस्पतियाँ तथा मानव के लिए उपयोगी बहुत सारी वस्तुएँ जहरीली होती जा रही हैं। बहुत सारी औद्योगिक इकाईयाँ जो शिरप, पेय पदार्थ के उत्पादन में लगी हैं वे भू–गर्भ जल का इतना ज्यादा दोहन कर रहीं हैं कि पृथ्वी के अन्तर्निहित जल स्तर को इतना नीचे कर दे रहीं हैं कि मानव तथा उसके जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में बाधा उत्पन्न कर दे रही हैं। औद्योगिक इकाईयाँ अपने उपकरण को संचलित करने के लिए बृहद् पैमाने पर ऊर्जा का उपयोग करते हैं। उसके लिए आज भी हमारे देश में डीजल, पेट्रोल, डामर तथा कोयले का बृहद् पैमाने पर उपयोग किया जा रहा है। जो बिजली का उपयोग करते हैं वह भी पवन, जल, सौर ऊर्जा और परमाणु से पूर्णतया संचालित न होकर कोयले, पेट्रोल और डीजल से ही पैदा कर रहे हैं। ये सारे पदार्थ ऊर्जा का संचालन तो करते हैं और इसके संचालन में इतना ज्यादा प्रदूषण रोज उत्सर्जित कर रहे हैं कि वायुमंडलीय क्षेत्र में CO_2, CO_2 तथा अन्य जहरीली गैसें जो मानव समाज को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण वायुमण्डल को नष्ट कर रही हैं।

जब से विदेशी या बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हमारे देश में अनवरत स्थापित होती जा रही हैं। वे खास तौर से भारत को ज्यादा प्रदूषित कर रही हैं और ये औद्योगिक इकाईयाँ अपने उत्पादन को विकसित करने के लिए अपने चारों तरफ मानवीय आबादी के घनत्व को इतना बढ़ाती जा रही हैं कि उन बढ़ती हुई आबादी के अनुकूल उत्सर्जन की समुचित व्यवस्था नहीं हो पा रही है। अतः आबादी के घनत्व का बढ़ना भी पर्यावरणीय

अशुद्धता में और अधिक बढ़ोत्तरी कर रही है। जैसे बढ़ती आबादी के अनुकूल व्यवस्थित निवास, जल निकासी, मलमूत्र तथा अन्य उत्सर्जित गन्दगियों से बचाव की समुचित व्यवस्था नहीं हो पा रही है।

हमारा देश कृषि प्रधान देश है जिससे मानव के लिए उपयोगी अन्न, उद्योगों के लिए कच्चे माल, पशुओं के लिए चारे तथा हरी सब्जियों का बृहद् स्तर पर उत्पादन होता है। इस उत्पादन के चलते ही हमारे देश की आबादी अभी भी गाँवों में अधिक बसती है। इस आबादी के साथ ही पर्यावरणीय प्रदूषण की स्थितियाँ बहुत तेजी से विकसित हो रही हैं। भारत की बहुसंख्यक आबादी देहातों में रहती है। यह आबादी भी पूर्णतया शिक्षित नहीं है जो अपने जीवन से सम्बन्धित पर्यावरण की समस्या को समझ सके, सोच सके व उसका समाधान निकाल सके। वे अपने रहन–सहन के लिए जो निवास बनाते हैं, जल का उपयोग करते हैं, अपने जीवन को कायम रखने के लिए जो फसल उगाते हैं तथा अपने व अपने पालतू पशुओं द्वारा उत्सर्जित पदार्थ की समुचित व्यवस्था नहीं कर पाते हैं।

हमारा देश धर्मनिरपेक्ष रहते हुए भी धार्मिक आस्थाओं का देश है। यहाँ धर्म और भगवान में विशेष आस्था रखने के कारण उसके पूजन–अर्चन, मन्नत तथा चढ़ावा में जैसे धूप, अगरबत्ती, होम, यज्ञ, पुष्प, जल, पयस आदि द्वारा उत्सर्जित पदार्थ मंदिरों के इर्द–गिर्द तथा पूर्ण वातावरण को प्रदूषित कर रहे हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारा तथा चर्च में प्रातःकालीन ध्वनि प्रदूषण जो की बहुलता को हर नागरिक जानता है जो न तो मानव के लिए लाभकारी है और न प्रकृति तथा मानव सम्बन्धित पशुओं के लिए लाभकारी है। इन्हीं धार्मिक आस्थाओं के चलते मनुष्य अपने–अपने धर्म के अनुसार अन्तिम संस्कार भी करता है। इससे नदियों के जल तथा वायु में प्रदूषण किया जाता है। खुले स्थानों पर मानव तथा पशुओं की लाशों को फेंक देने पर भी प्रदूषण होता है।

आवागमन के साधनों के कारण वैश्विक दूरियाँ बहुत कम हो गई हैं। इस आवागमन के साधनों में हम जिस ईंधन का प्रयोग करते हैं। वह ईंधन भी इतना ज्यादा पर्यावरणीय प्रदूषण का उत्सर्जन करता है जो औद्यिगिक उत्पादन की इकाईयों से कत्तई कम नहीं हैं। जो वाहन जितना ज्यादा तीव्रगामी होते हैं वे उतना ही ज्यादा हाइड्रोकार्बनिक गैसों का उत्सर्जन करते हैं। इन वाहन को प्रदूषणरहित बनाने की प्रक्रिया में दुनिया के बहुत सारे विकसित और अविकसित देश भी हल करने अपने को असमर्थ पा रहे हैं।

आज के युग में मानव के अत्यधिक संवेदनशील, सुसभ्य और एक चिंतक के रूप में विकसित होने पर भी सम्पूर्ण विश्व देश, राष्ट्र के रूप में बँटा हुआ है। जो अपने देश के दायरे को कायम रखने के लिए बहुत सारे हथियारों के पर्ण्य का पुनरूत्पादन करते जा रहे हैं। जो एक औद्योगिक इकाई के रूप में पर्यावरणीय प्रदूषण तो फैलाता ही है साथ ही ऐसी विस्फोटक सामग्रियाँ विकसित करके इतना ज्यादा भंडारण कर लिया है कि उसका विस्फोट संपूर्ण मानव जीवन को चंद मिनटों के अन्दर तहत–नहस कर सकता है। इसी सन्दर्भ में प्रमुख विचारक श्री राजदेव 'मुकुल' ने ठीक ही कहा है –

शोषण घोर दमनकारी,
युद्ध–जनक विध्वंसक है।
मानव–वेधी, जगनाशक,
पर्यावरण –प्रदूषक है।।

साथ ही युद्ध अथवा प्राकृतिक आपदाओं के चलते भी जो विस्फोट हो जाते हैं मानव के हानि पहुँचाने में अहम् भूमिका निभाते हैं। आज का सम्पूर्ण विश्व विभिन्न किस्म के अनुसंधानों, शोधों तथा आन्तरिक उत्पादन में लगा हुआ है। जिसके सफल परीक्षण से भी इतना ज्यादा विस्फोट होता है जो पर्यावरणीय अशुद्धता को बढ़ाने में ही योगदान करता है।

विश्व का मानव समुदाय इतना सभ्य, समझदार, चैतन्यशील है और अपनी जागरूकता के चलते इस पर्यावरणीय अशुद्धता के सर्वनाश के लिए अब प्रयासरत हो गया है जो आने वाले दिनों में विभिन्न उपायों को व्यवहार में लाने के लिए तमाम संगोष्ठियों, सेमिनारों, सम्मेलनों और पर्यावरणविदों की सज्ञानता का जो विस्तार कर रहा है उसी के तहत पर्यावरणीय प्रदूषण से बचने के लिए जो मानवीय समझ बनी है, उन उपायों को लागू करना हमारा परम कर्त्तव्य बन जाता है।

औद्योगिक इकाईयों में जो भी अपशिष्ट बच रहे हैं उनके उत्पादन की मात्रा को मानव के उपयोग के अनुकूल करके, पुनरूत्पादन में अपशिष्ट का प्रयोग करके तथा प्रशासन द्वारा नियमन करके रोका जा सकता है। जल प्रदूषण को नदी में छोड़ने के बजाय बृहद् सोक्ताओं का निर्माण करके बारिश के पानी का संचयन तथा प्रदूषित जल का संचयन पृथ्वी के गर्भ में किया जा सकता है। शहरों के सीवर का पानी भी विशाल सोक्ताओं द्वारा पृथ्वी के अन्दर संचित किया जा सकता है।

पेयपदार्थों को प्रदूषणयुक्त जल तथा रासायनिक पदार्थों के प्रयोग से निर्माण किया जा रहा है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। ऐसे पेयपदार्थों के उत्पादन पर प्रशासन द्वारा पूर्णतया रोक लग जानी चाहिए। औद्योगिक इकाईयों में प्रयोग किये जाने वाले पेट्रोल, डीजल, डामर तथा कोयले का प्रयोग कम से कम किया जाय और इसकी जगह पर पानी, सूर्य का प्रकाश, पवन जैसी प्रदूषणमुक्त ऊर्जा के संयंत्र लगाये जाय जिसका उपयोग सभी जगह पर किया जाय और औद्योगिक इकाई की चिमनियों को अधिकतम ऊँचाई प्रदान करके धूयें को छोड़ा जाय। शहरों तथा देहात में आबादी के घनत्व को देखते हुए सोक्तायुक्त लैट्रीन का निर्माण कराया जाय।

लोगों के शैक्षणिक स्तर को ऊँचा उठा करके धर्म द्वारा उत्पन्न प्रदूषण को रोका जा सकता है तथा शरीर के अन्तिम संस्कारों के लिए बिजली शवदाह गृहों का बृहद् पैमाने पर प्रयोग करके उससे उत्पन्न प्रदूषण को रोका जा सकता है। गाँव तथा शहरों में लोगों की समझ को इतना विकसित कर दिया जाय कि वे अपने चारों तरफ विशेष अभियान चला करके सफाई की समुचित व्यवस्था करें।

हमारे देश में पारिवारिक उत्सवों, समारोहों, शादी विवाह के अवसर पर आतिशी वस्तुओं के निर्माण पर रोक लगाकर आतिशबाजी को रोका जा सकता है तथा शोध, अन्वेषणों, अनुसंधानों आदि के परीक्षणों को पृथ्वी के ऊपर न करके समुद्र में या पृथ्वी के अन्दर या रेगिस्तान में किया जाय। दुनिया के विभिन्न देशों को चाहिए कि सहअस्तित्व जैसी संधियाँ स्थापित करके तथा अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्द्वन्द्वों को आपस में सुलझा लेने का प्रयास करें जिससे सुरक्षा के सवालों पर तथा आर्थिक तथा मानवीय संवेदनाओं के बीच आपसी सामन्जस्य स्थापित किया जा सके। सारे युद्धक उपकरणों के निर्माण पर रोक लगाई जा सके।

आज दुनिया में मानव अपने कृत्यों से बहुत से जीवों का नाश करके तथा विभिन्न प्रदूषणों को जन्म देकर पर्यावरणीय

सन्तुलन को विद्रूप कर दिया है और इस पर्यावरण के अन्तर्गत मनुष्य के जीवन प्रदायी तथा दीर्घायु करने वाली गैसों का सर्वथा अभाव होता जा रहा है। उसमें आक्सीजन गैस प्रधान है जिसकी कमी से सौर्वभौमिक उष्णता लगातार बढ़ रही है। इसको कम करना मनुष्य के लिए आवश्यक हो गया है और यह आक्सीजन धरती पर जल–थल पर उगने वाली वनस्पतियाँ ही कर सकती है। अतः मनुष्य जल में शैवाल का संरक्षण करके तथा तमाम खाली पड़ी जमीनों पर वनस्पति और पेड़–पौधों को लगाकर आक्सीजन की कमी को बहुत काफी कम कर सकता है। अतः दुनियाँ में रहने वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य बनता है कि वह अपने जीवन के लिए पर्यावरणीय जन्तुओं, पक्षियों, वन्य जीवों, वनों, वनस्पतियों तथा पेड़–पौधों के संरक्षण द्वारा पर्यावरणीय असंतुलन को ठीक कर सकता है।

आज मनुष्य के लिए पर्यावरणीय असंतुलन एक मुख्य समस्या के रूप में एक विशालकाय मानवनाशी दैत्य के रूप में प्रकट हो गया है। समय रहते यदि मनुष्य इस समस्या के समाधान के लिए व्यापक प्रयास आरम्भ न किया तो पूर्ण मानव समाज को असमय काल कवलित होने में जरा सा भी समय नहीं लगेगा। इस धरती पर मानव ही सबसे विकसित जीव है। इसलिए यह पर्यावरणीय संतुलन स्थापित करने की जिम्मेदारी पूर्णतया मनुष्य पर ही आती है। अतः आज मानव को चाहिए कि अपने अनुसंधानों, शोधों, वैचारिक सम्मेलनों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों और संगोष्ठियों के द्वारा मानव को जागृत करें और उसके समाधान के समस्त उपायों का क्रियान्वयन करके अपने आने वाली पीढ़ी और मानव समाज अक्षुण्य रखने हेतु प्रयास करें।

सन्दर्भ–

1. पाण्डेय, रामसकल (2003), उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, आगरा, विनोद पुस्तक मंदिर, पृ0 732.
2. भरूचा, इराक (2006), पर्यावरण अध्ययन, नोयडा, इंडिया बाईंडिंग हाऊस, पृ0 188–192.
3. मुकुल, राजदेव (2010), नारी, लखनऊ, सुलभ प्रकाशन, पृ0 79.
4. Sinha, R.K. (2000), Environment and Sustainable Development. New Delhi, Anamika Publishers and Distributors P.55.
5. Vashist, H. (2002), Environmental Education : Problems and Solutions. Jaipur, Book Enclave, pp. 152-155.
6. Saxena, A.B. (1986), Environmental Education. Agra, Bhargava Book House, pp.36-39.
7. Gaan, N. (2005), Relevance of Environment. New Delhi, Kalpaz Publications, pp. 304-309.
8. Mckinney, M.L. and Schock, R.M. (1996), Environmental Science: Systems and Solutions. New York, West Publishing Company, pp 132, 155, 232, 393, 569.
9. Saxena, H.M. (1999), Environmental Geography. Jaipur, Rawat Publications, pp. 230-232.
10. Prabhakar, V.K. (2001), Environmental awareness, training and education. New Delhi, Anmol Publications, pp. 110-111.
11. Raj, Shalini (2004), Teaching of Environmental educations. New Delhi, IVY publishing House, pp. 140-141.
12. Rajimwale, A. (2006), Environment versus Development. New Delhi, Sunrise, p. 161.
13. Tripathi, G. & Pandey, G.C. (2001), Current Topics in Environmental Sciences. Jaipur, ABD Publishers, pp. 450-458.

*शोध छात्र, शिक्षा संकाय (कमच्छा), बी.एच.यू., वाराणसी।

संवैधानिकता : मानव अधिकार क्यों और किस लिए?

मुकेश कुमार मालवीय*

मानव की आकांक्षा एवं प्रवृत्ति स्वस्थ शरीर, आवश्यकता की सुलभता एवं सुखी जीवन–यापन करने की होती है। सुखी जीवन में मुख्यतः गौरवमय जीवन, सुशिक्षा, भोजन एवं आवास समाहित होता है। मानव प्राणी इन मूल आवश्यकताओं को सच्चाई एवं न्यायिक आधार पर प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है। इस प्रकार मानव द्वारा सच्चाई तथा न्याय से प्राप्त की जाने वाली मूल आवश्यकताओं की आकांक्षा मानव अधिकार कहलाते हैं। मानव के अधिकार के रूप में मानवीय आकांक्षा को सकारात्मक मूर्त स्वरूप देने के लिए राज्य द्वारा प्रदत्त की जाने वाली संरक्षा की आवश्यकता होती है। राज्य द्वारा प्रदत्त की जाने वाली इस संरक्षा के लिए विधि की आवश्यकता होती है क्योंकि विधि के आधार पर ही राज्य सच्चाई एवं न्यायिक मापदण्ड के आधार पर मानवीय मूलभूत आवश्यकताओं को प्रदत्त एवं मानव द्वारा सुलभ संसाधनों की संरक्षा कर सकता है। इसलिए मानव अधिकारों को सापेक्ष स्वरूप देने के लिए संवैधानिक एवं वैधानिक अस्तित्व का होना आवश्यक है।

प्राचीन काल में मानव अधिकारों को सुरक्षा देने के लिए कोई भी विधि प्रवर्तनीय नहीं थी। प्रत्येक देश में दासों की संख्या अधिक थी तथा उन्हें किसी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं थे। कुछ ही मानव स्वतंत्र थे उनमें से भी महिलाओं, बच्चों, दस्तकार एवं ऋणग्राही को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे। सीमित लोग सत्ता में भागीदार थे तथा उसमें भी सभी समान नहीं थे। मध्यकाल में जनता समानता एवं अधिकारों के बारे में बात नहीं कर सकती थी इसीलिए उस समय कहीं भी शान्ति एवं स्थिरता नहीं थी। फलतः मानव अधिकार विधितः सुरक्षित नहीं थे। पुनर्जागरण काल में मानव अधिकारों की सुरक्षा की दृष्टि से नवीन युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में व्यापार ने प्रगति की, उद्योगों का विकास हुआ। नवीन स्थानों की खोज हुई, व्यक्ति एक दूसरे की सभ्यता के संसर्ग में आये, जनता ने सीमित व्यक्तियों द्वारा चलाई जाने वाली सत्ता का विरोध किया। इसी समय इंग्लैण्ड में जॉन द्वितीय अपने भाई रिचर्ड की मृत्यु के बाद सत्तासीन हुआ और उसने अपनी याचिका (रिट) क्षेत्राधिकारों का विस्तार किया, इससे असन्तुष्ट होकर वहां की प्रभावित जनता ने शासक को मेग्नाकार्टा चार्टर पर सन् 1215 हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इंग्लैण्ड के लोगों की स्वतंत्रता के संबंध में सर्वप्रथम पारित इस चार्टर को मील का पत्थर माना गया। मैग्नाकार्टा के प्रावधानों के अनुसार किसी भी स्वतंत्र व्यक्ति को विधिक प्रावधानों के तहत, विधिक निर्णय के बिना परिरोध या कारावास या देश निकाला नहीं किया जा सकता था।

फ्रांस में सन् 1789 की घोषणा द्वारा मानव को गरिमायुक्त जीवन यापन करने के लिए कुछ नैसर्गिक एवं आवश्यक अधिकार प्रदान किये गये। तत्पश्चात् सन 1793 में इस घोषणापत्र के माध्यम से फ्रांस की जनता को अत्याचार का प्रतिरोध करने, प्रेस की स्वतन्त्रता एवं राजनैतिक अधिकार प्रदत्त किये गये। वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका में 4 जुलाई, 1776 को यह उद्घोषित किया गया कि – "हम स्व–साक्ष्य की सच्चाई को स्वीकार करते हैं कि सभी व्यक्ति समान हैं, उनको बनाने वाले ने अहस्तान्तरणीय अधिकारों से विभूषित किया है, इस प्रकार के अधिकार मुख्यतः व्यक्ति के दैहिक स्वतन्त्रता एवं प्रसन्नता को सन्निहित करते हैं।" यद्यपि 4 जुलाई, 1776 को प्राप्त स्वतन्त्रता के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका में मानव अधिकारों की विधिक स्थिति दृष्टव्य हुई लेकिन दक्षिण के राज्यों में इन अधिकारों को लागू करने से इन्कार किया गया। इस घोषणा के 87 वर्षों के पश्चात् सन् 1863 में अमेरिका में दास प्रथा को समाप्त किया गया। सन् 1868 से प्रभावी 14वें संविधान के माध्यम से औपचारिक रूप से समानता के अधिकार को प्रदत्त किया गया। अमेरिका में राज्यों का अपना संविधान है और संघ का अलग संविधान। इसमें उल्लिखित प्रवधानों के आधार पर नागरिकों को मूलाधिकार प्राप्त हैं। इनको सभी के उपकार के लिए लागू करने का न्यायालय हर संभव प्रयास करता है। इस प्रकार वहां संवैधानिक स्थिति के रूप में मानव अधिकार लोगों को प्राप्त हैं। वर्तमान में मानव अधिकारों की विधिक एवं संवैधानिक धारणा का इतिहास चार शताब्दियों से भी कम का है। अगस्त, 1941 को अटलांटिक चार्टर में चार स्वतन्त्राओं की घोषणा की गई। 1 जनवरी, 1942 की संयुक्त राष्ट्र की घोषणा द्वारा इन सिद्धान्तों को इस प्रकार स्वीकार किया गया कि "मानव की गरिमा एवं योग्यता के लिए पुरूष एवं महिला के अधिकारों को समान मानते हुए मानव के मूल अधिकारों में विश्वास करना चाहिए"।

संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा 10 दिसम्बर, 1948 को मानवाधिकारों की घोषणा की गई। इस अवसर पर संयुक्त राष्ट्र संघ के अध्यक्ष ने मानवाधिकारों की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए कहा कि यह प्रथम अवसर है जबकि संगठित राष्ट्रों ने मानव अधिकार एवं मूल स्वतन्त्रताओं की घोषणा की है। इस प्रकार यह घोषणा एक क्रान्तिकारी कदम है।[1] संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घोषित इस विधिक प्रावधान के अनुच्छेद 2 में उल्लेख है – "इस घोषणा द्वारा घोषित अधिकार एवं स्वतन्त्राओं के लिए कोई भी बिना भेद–भाव के जैसे मूलवंश, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीति या अन्य विचार, राष्ट्रीय या सामाजिक उद्भव, सम्पत्ति, जन्म या अन्य प्रस्थिति को अधिकृत होगा।" इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि किसी भी राष्ट्र के साथ राजनैतिक, क्षेत्राधिकार या अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्थिति या क्षेत्र जिसको उसने धारण किया है, चाहे, वह स्वतन्त्र हो, स्वायत्तशासी हो या किसी सम्प्रभु के अधीन हो, भेदभाव नहीं किया जायेगा।" इसी अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेज के अनुच्छेद 3 में कहा गया है – "प्रत्येक व्यक्ति के पास दैहिक स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा का अधिकार है।" अनुच्छेद 4 उद्धृत करता है कि किसी को भी दास नहीं बनाया जायेगा, दास का व्यापार हर प्रकार से प्रतिबन्धित होगा। अनुच्छेद 8 संविधान एवं विधि द्वारा प्रत्याभूत मूलाधिकारों के उल्लंघन होने पर राष्ट्रीय अधिकरण के माध्यम से उपचार प्रदत्त करता है। अनुच्छेद 9 के अनुसार किसी भी व्यक्ति को मनमाने तरीके से बन्दी नहीं बनाया जायेगा या उसे देश से निष्कासित नहीं किया जायेगा। इस प्रकार विश्व संस्था के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा उद्घोषित मानव अधिकारों की वैधानिक स्थिति के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ, एमनेस्टी इण्टरनेशनल के माध्यम से मानव अधिकारों के उल्लंघन का परिनिरीक्षण करता है तथा इन मानवीय अधिकारों के सुरक्षा का कारगर उपाय सुझाता है। मुख्यतः मानव अधिकारों की धारणा लोकतन्त्रात्मक गणराज्य

में पाई जाती है क्योंकि लोकतन्त्रात्मक गणराज्य में विधि के शासन के अनुरूप शासन चलाना पहली शर्त होती है। लगभग विश्व के समस्त लोकतन्त्रात्मक गणराज्यों में मानवाधिकारों की सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधान किए गए हैं।

उदाहरणार्थ, चीन ने लोकतन्त्रात्मक संविधान 4 दिसम्बर, 1982 को स्वीकार किया। इस संविधान का द्वितीय अध्याय मूल अधिकार एवं नागरिकों के कर्तव्यों का उल्लेख करता है। इनमें उल्लिखित प्रावधानों के अनुसार ये अधिकार केवल चीन के नागरिकों को ही प्रदत्त किये गये हैं। इसके द्वारा प्रत्याभूत मूलाधिकारों के अनुसार सभी व्यक्ति चीनी राष्ट्रीयता रखने वाले लोक गणराज्य चीन के नागरिक होंगे। ये सभी नागरिक विधि के समक्ष समान होंगे। सभी नागरिक संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के लिए अधिकृत होंगे एवं कर्तव्य का पालन करने के लिए बाध्य होंगे[2]। चीनी नागरिकों को वाक्, प्रेस, संघ, संगठन, जुलूस एवं प्रदर्शन की स्वतंत्रता होगी।[3] किसी भी नागरिक को विधिक निर्णय के बिना बन्दी नहीं बनाया जायेगा।[4] चीनी नागरिक की व्यक्तिगत गरिमा का उल्लंघन प्रतिबन्धित है।[5] चीनी नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन होने पर विधि के अनुसार क्षतिपूर्ति का प्रावधान है।[6] चीनी नागरिकों को कार्य करने के अधिकार के साथ–साथ कार्य के बाद आराम का अधिकार भी उपलब्ध है।[7] चीनी नागरिकों को बीमारी, वृद्धावस्था एवं अयोग्य होने पर राज्य से सहायता लेने का अधिकार है।[8] वहां के नागरिकों को शिक्षा प्राप्त करने के कर्तव्य के साथ अधिकार भी प्राप्त हैं।[9] महिला एवं पुरूषों को समान अधिकार प्राप्त हैं। विवाह, परिवार, माता एवं बच्चे को राज्य के द्वारा सुरक्षा दी जायेगी, पति एवं पत्नी परिवार नियोजन अपनाने के कर्तव्य के अधीन हैं।[10] इस प्रकार, नागरिकों को प्रदत्त किए गए संविधानिक मानवीय अधिकारों के माध्यम से चीन ने अपने नागरिकों को रोजगार एवं शिक्षा को भी विशेष रूप से मूलाधिकारों के रूप में प्रदत्त किया है जो अन्य राष्ट्रों में इस प्रकार उपलब्ध नहीं हैं। चीन के लोक गणराज्य द्वारा प्रत्याभूत मौलिक अधिकारों के उल्लंघन पर स्पष्ट क्षतिपूर्ति का प्रावधान विश्व के अन्य लोकतन्त्रात्मक गणराज्यों की अपेक्षा विशेष है। अतः मानव अधिकारों की दृष्टि से इन प्रावधानों को उत्तम कहा जा सकता है।

26 जनवरी, 1950 को भारत लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया और भारत के संविधान निर्माताओं के मस्तिष्क में 'दरिद्र नारायण' के उद्धार की धारणा प्रबल थी। ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने कहा था – ''यदि स्वतन्त्र समाज बहुत से गरीबों की सुरक्षा नहीं करेगा तो वह सीमित धनी व्यक्तियों को भी नहीं बचा पायेगा।'' इस प्रकार भारतीय संविधान निर्माताओं ने सर्वहिताय एवं मानवीय मूल्यों की धारणा को आधार बना कर संविधान का निर्माण किया। यह धारणा संविधान की उद्देशिका से ही परिलक्षित होती है कि भारत के समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त होगी तथा संविधान अंगीकार करने से व्यक्ति की गरिमा सुनिश्चित करने वाली बन्धुता एवं राष्ट्र की एकता और अखण्डता में सुदृढ़ता आयेगी। संविधान के इस प्रतिबिम्ब से यह स्पष्ट होता है कि भारत में मानवाधिकारों की संवैधानिक स्थिति सुदृढ़ है।

भारत के संविधान का तृतीय भाग मूलाधिकारों का उल्लेख करता है।[11] इन अधिकारों द्वारा व्यक्ति को सुरक्षा, संरक्षण, समानता, व्यक्ति को प्रोन्नति एवं लोक नियोजन के अवसर, शोषण से बचाव एवं गरिमायुक्त जीवनयापन करने का अवसर मिलता है। इसलिए इन अधिकारों को मानवीय आदर्शात्मक जीवनयापन करने में सहायक सिद्ध होने के कारण मानव अधिकारों की संज्ञा दी जाती है। इसके अतिरिक्त, संविधान के भाग चार में राज्य के नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख किया गया है[12] जिसमें लोक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए मार्गदर्शन दिये गये हैं। यद्यपि अनुच्छेद 37 में कहा गया है कि इस भाग में अन्तर्विष्ट प्रावधान किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हों तथापि इनमें अधिकथित तत्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्तव्य है। न्यायालय के निर्देश अथवा स्व–विवेक के आधार पर संसद ने इनमें आवश्यक संशोधन करके इन्हें लोकोपयोगी बनाया है।[13] राज्य के नीति निदेशक तत्वों को मानव अधिकारों के स्वरूप में स्वीकार किया जाता है क्योंकि न्यायालय ने इन प्रावधानों को मूलाधिकारों के विपरीत न मानते हुए उन्हें पूरक एवं परिपूरक के रूप में स्वीकार किया है।[14] इस प्रकार, अब मूलाधिकारों के साथ समिश्रित रूप से नीति निदेशक तत्वों को लागू करने के लिए न्यायालय द्वारा इन्हें प्रवर्तनीय बनाया गया है। इस संबंध में केशवानंद भारती बनाम केरल राज्य[15] के मामले में न्यायमूर्ति हेगड़े और मुखर्जी ने कहा कि ''मूल अधिकार तथा निदेशक तत्व हमारे संविधान के अन्तःकरण हैं। मूल अधिकारों का प्रयोजन एक समतावादी समाज का निर्माण करना और समाज के उत्पीड़न या बन्धनों से सब नागरिकों को मुक्त करना तथा सबके लिए स्वतन्त्रता की उपलब्धि सुलभ करना है। निदेशक तत्वों का प्रयोजन कुछ ऐसे सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को नियत करना है जो अहिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति द्वारा तत्काल प्राप्त किये जा सकते हों।

मूल अधिकारों तथा निदेशक तत्वों के बीच कोई विरोध नहीं है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। रंजन द्विवेदी बनाम भारत संघ[16] में उच्चतम न्यायालय ने राज्य के नीति निदेशक तत्वों से विधायिका एवं कार्यपालिका के साथ ही न्यायालयों को भी इस निर्देश से बाध्य बताते हुए कहा कि न्यायालय संविधान का इस तरह निर्वचन करें ताकि निदेशक तत्वों को क्रियान्वित किया जा सके और इनमें निहित सामाजिक लक्ष्यों एवं व्यक्तिगत अधिकारों में सामंजस्य स्थापित किया जा सके। राज्य के नीति निदेशक तत्वों में मानवीय सुरक्षा संबंधी अधिकारों के अन्तर्गत पुरूष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार, पुरूषों तथा स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन, पुरूष एवं स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य की रक्षा, बालकों की सुकुमार अवस्था के दुरूपयोग पर प्रतिबन्ध, बालकों को स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और इनके शोषण से रक्षा आते हैं।[17] मानवीय न्यायिक अधिकारों के अन्तर्गत समान न्याय और निःशुल्क विधिक सहायता, ग्राम पंचायतों का संगठन, नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता, अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा में अभिवृद्धि आते हैं।[18] कार्य एवं शिक्षा संबंधी मानवीय उपबन्ध में समाहित हैं कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार, काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबंध, कर्मकारों के लिए निर्वाह मजदूरी, उद्योगों के प्रबंध में कर्मकारों को भाग लेना, बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों की शिक्षा और अर्थ संबंधी

हितों में अभिवृद्धि आदि।[19]

भारत में मानव अधिकारों की संवैधानिक स्थिति का सहज विवेचन व्यक्ति एवं नागरिकों को प्रत्याभूत मौलिक अधिकारों में दृष्टव्य होना स्वाभाविक है। इन सार्वभौमिक अधिकारों द्वारा सर्वांगीण विकास का पथ प्रशस्त होता है। संविधान के भाग 3 में उल्लिखित मौलिक अधिकारों में सर्वोच्च विकास एवं सामाजिक न्याय की आकांक्षा हेतु विधिक समानता एवं समान संरक्षण, धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध, लोक नियोजन के विषय में अवसर की समता,[19] राज्य को अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों की प्रोन्नति के लिए विधि बनाने से निवारित न होना,[20] अस्पृश्यता का अन्त, उपाधियों का अन्त एवं सभी नागरिकों को कुछ अपवादों के तहत वाक्, अभिव्यक्ति, शांतिपूर्ण सम्मेलन, संघ बनाने, सर्वत्र अबाध संचरण, विकास एवं वृत्ति, उपजीविका, की स्वतंत्रता[21] प्रदत्त की गई है। अपराधों के लिए दोष सिद्धि के सम्बन्ध में संरक्षण, प्राण एवं दैहिक संरक्षण, कुछ दशाओं में गिरफ्तारी और निरोध से संरक्षण, व्यक्ति की स्वतन्त्रता को प्रबल करते हैं।[22] मानव के दुर्व्यापार और बलातश्रम का प्रतिषेध, कारखानों आदि में बालकों के नियोजन का प्रतिषेध, शोषण के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करते हैं।[23] इसके अतिरिक्त, लोक व्यवस्था, सदाचार एवं स्वास्थ्य के अधीन सभी व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता के साथ ही नागरिकों को भी शिक्षा एवं संस्कृत के तहत अल्पसंख्यकों के हितों का संरक्षण को भी मौलिक अधिकारों के माध्यम से सुरक्षित रखा गया है।[24] भारत के निवासियों के सर्वहिताय एवं सर्वकल्याणार्थ लक्ष्य को संबल प्रदत्त करने वाले इन संवैधानिक प्रत्याभूति के लिए संविधान में उपचारों की व्यवस्था भी अधिकारों के रूप में की गयी है।[25] इस प्रकार, संवैधानिक स्थिति के द्वारा भारत में मानव अधिकारों की सार्थकता का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है। देश, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार उच्चतम न्यायालय ने इस उपचार के माध्यम से मौलिक अधिकारों को मानव के हित में निर्वचन करते हुए विधि के समक्ष समानता एवं समान संरक्षण तथा व्यक्ति के प्राण एवं दैहिक स्वतन्त्रता के संरक्षण को व्यापकता प्रदान की है, जो कि विधिक इतिहास में सराहनीय कदम है।[26]

वर्तमान में समाज की प्रगति समाज में निवास करने वाले व्यक्तियों के स्वस्थ शरीर, सुशिक्षा, सौहार्दपूर्ण न्यायिक वातावरण में ही संभव है। इसलिए न्यायिक निर्वचन द्वारा इन अधिकारों के अन्तर्गत स्वास्थ्य अधिकार, राज्य के संसाधनों के अधीन शिक्षा की सुलभता एवं सौहार्दपूर्ण न्यायिक वातावरण उत्पन्न करने के लिए प्रशासनिक कार्यों में ऋजु, न्यायिक एवं युक्तियुक्तता के मापदण्ड को अभिनिर्धारित करते हुए प्रशासनिक मनमानी पूर्ण कार्यवाही पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। उपभोक्ता संरक्षण, एवं शोध फोरम[27] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्वास्थ्य के अधिकार को अनुच्छेद 21 में समाहित कर मूलाधिकार के रूप में "दैहिक स्वतन्त्रता" को प्रतिष्ठायुक्त दैहिक स्वतन्त्रता बताया है। इसी प्रकार, उच्चतम न्यायालय ने मानवाधिकारों के उद्देश्य से "जीवन के अधिकार" की व्याख्या करते हुए फ्रांसिस कोरेली मुलिन बनाम प्रशासक संघ राज्य क्षेत्र दिल्ली[28] एवं बंधुआ मुक्ति मोर्चा बनाम भारत संघ[29] के मामले में कहा है कि "जीवन का अधिकार" संक्षिप्ततः उन सभी अधिकारों की अभिव्यक्ति है जिसे न्यायालय को लागू करना चाहिए क्योंकि वे अधिकार गरिमायुक्त जीवन के आनन्द के लिए मूल हैं और व्यक्ति विशेष की स्वतन्त्रता के लिए इसे पूर्ण दूरी तक विस्तारित किया जाना चाहिए। खड़क सिंह बनाम उ0प्र0 राज्य[30] के मामले में न्यायालय ने मनुष्य के जीवन को सभी सुविधाओं से युक्त जीवन बताया है। पंजाब राज्य बनाम मोहिन्दर सिंह चावला[31] के मामले में सन् 1997 में उच्चतम न्यायालय ने "जीवन के अधिकार" में स्वास्थ्य के अधिकार को सन्निहित करते हुए राज्य सरकार के कर्मकार को राज्य के बाहर सरकार की अनुमति से विशेष चिकित्सा उपचार हेतु भेजने पर चिकित्सा हेतु कर्मकार द्वारा व्यय किये गये धनराशि के भुगतान के साथ ही कक्ष के किराये का भुगतान भी आवश्यक बताया है।

यद्यपि न्यायिक निर्णय द्वारा भारत में मानवाधिकारों के स्वरूप को व्यापकता प्रदत्त की गई है तथापि यदि हम लोक गणराज्य चीन द्वारा सन् 1982 में स्वीकार किये गये संविधान के स्पष्ट मौलिक अधिकारों एवं भारत के संविधान के मौलिक अधिकारों की तुलनात्मक समीक्षा करें तो ज्ञात होता है कि चीन के संविधान में शिक्षा का अधिकार, रोजगार का अधिकार, परिवार नियोजन का अधिकार के रूप में कर्तव्य एवं मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के लिए क्षतिपूर्ति का प्रावधान स्पष्टतः उल्लिखित है जबकि भारत के संविधान में मौलिक अधिकार के रूप में स्पष्ट प्रावधान संविधान में नहीं हैं यद्यपि इनका स्पष्ट उल्लेख (परिवार नियोजन का अधिकार के अतिरिक्त) राज्य के नीति निदेशक तत्वों में पाया जाता है। चीन लोक गणराज्य एवं भारतीय लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के संविधानों में उल्लिखित मानव अधिकारों में प्रथम दृष्टि में विभिन्नता पाई जाती है। यहां पर यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि भारत की स्वतंत्र न्यायपालिका ने मौलिक अधिकारों के उल्लंघन के लिए राज्य द्वारा क्षतिपूर्ति देने का भी निर्णय दिया है। जैसे – पीपुल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ[32] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने सिविल एवं राजनैतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौता 1966 का अनुच्छेद 9(5) का आधार लेते हुए अभिनिर्धारित किया कि पुलिस द्वारा दो व्यक्तियों को ले जाना तथा आतंकवादी मानकर मारना मूलाधिकारों का उल्लंघन है तथा दोनों मृतकों के आश्रितों को एक–एक लाख रूपया क्षतिपूर्ति के रूप में देने का आदेश दिया है।

4 दिसम्बर, 1986 के संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव में विकास के अधिकार को मानवाधिकार कहा गया है, इसमें उल्लेख है – स्वभावतः समस्त मानव प्रणाली आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विकास, जिसमें सम्पूर्ण मानव अधिकार एवं मूल स्वतन्त्रतायें पूर्णतः समाहित हों, में सहभागिता करने, योगदान करने एवं उपभोग करने के लिए अधिकृत हैं। 24 जनवरी, 1985 के संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा में यह भी कहा गया है कि राज्य का यह प्रथम दायित्व है कि वह व्यक्तियों के सामूहिक एवं व्यक्तिगत विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न करे। संयुक्त राष्ट्र संघ के इस प्रस्ताव के अन्तर्गत सामाजिक विकास के अर्थ में शुद्ध वातावरण युक्त प्रदूषण रहित समाज की कल्पना भी सन्निहित है। इस प्रकार के विकासयुक्त मानवाधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए भारत में संवैधानिक एवं विधिक प्रावधान उपलब्ध है। भारत के संविधान के अनुच्छेदी 48 'क' में उल्लेख है कि राज्य पर्यावरण के संरक्षण तथा संवर्धन का कार्य करेगा।[33] अनुच्छेद 51क(छ) में प्रत्येक नागरिक को प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा का दायित्व सौंपा गया है।[34] इसी प्रकार भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धाराएं 268, 269, 270, 277, 278 एवं 284 भी अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण को

संरक्षित रखने का प्रावधान करती हैं। कारखाना अधिनियम, 1984 में कारखाना कर्मकारों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए विभिन्न उपायों की व्यवस्था की गयी है। प्रदूषण से मानवाधिकारों को संरक्षित करने के लिए प्रत्यक्ष प्रदूषण नियंत्रण आदि हैं। प्रदूषण नियंत्रण के लिए जन (प्रदूषण निवारण औरन नियंत्रण) अधिनियम, 1974, वायु (प्रदूषण निवारण और नियंत्रण) अधिनियम 1981 एवं पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986 भी बनाये गये हैं। स्वच्छ वातावरण को मानव जीवन के लिए आवश्यक बताते हुए उच्चतम न्यायालय ने एम0सी0 मेहता बनाम भारत संघ[35] में कहा है कि अनुच्छेद 51क के अधीन केन्द्रीय सरकार का यह कर्तव्य है कि वह देश की शिक्षण संस्थाओं में सप्ताह में एक घंटे पर्यावरण संरक्षण की शिक्षा देने का निर्देश दे। वर्तमान में मानवीय जीवन को अधिकार के रूप में संरक्षित रखने के लिए कारगर उपाय करने आवश्यक हैं क्योंकि प्रदूषण मानव को गम्भीरता से प्रभावित कर रहा है। साइन्स एन्वायरमेंट पत्रिका 'डाइउन टू अर्थ' के अनुसार वायु प्रदूषण से ही भारत के 6 शहरों में प्रत्येक वर्ष 40,000 लोगों की मृत्यु हो रही है, जिसमें से केवल दिल्ली में 7500 लोगों की मृत्यु हो रही है।[36]

अन्ततः भारत में मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 के अनुसार राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग और, राज्य मानवाधिकार न्यायालयों के गठन का प्रावधान किया गया है। अधिनियम की धारा 12 में आयोग के कार्यों का उल्लेख किया गया है कि आयोग स्वयं अथवा पीड़ित व्यक्ति से प्राप्त शिकायत पर मानवाधिकारों के उल्लंघन या उनके उल्लंघन के लिए अवप्रेरण या लोक सेवक द्वारा मानवाधिकारों के उल्लंघन को रोकने में उपेक्षा करने पर, मानवाधिकारों का मामला न्यायालय में लम्बित होने पर न्यायालय की अनुमति से हस्तक्षेप, राज्य सरकार के अधीन कारावास या अन्य संस्थाओं में राज्य सरकार को सूचना देकर जाना तथा बन्दियों की स्थिति का अध्ययन करके सुधार के लिए संस्तुति करना, संविधान एवं तद् समय प्रभावी विधि द्वारा मानवाधिकारों को सुरक्षा देने वाले प्रावधानों का पुनरीक्षण करके इन्हें प्रभावी बनाने वाले उपायों की सिफारिश करना, आतंकवादी गतिविधियों सहित मानवाधिकार के उपयोग को रोकने वाली स्थितियों की समीक्षा करते हुए उपयुक्त उपचारात्मक साधन के लिए सुझाव देना, अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों एवं अन्य उपायों को प्रभावी बनाने के लिए सुझाव देना, मानव अधिकार के क्षेत्र में शोध करना एवं प्रोन्नति देना, समाज के प्रत्येक वर्ग को मानवाधिकारों की जानकारी देना एवं इनके सुरक्षा के लिए प्रकाशन, प्रसारण एवं सेमिनार के माध्यम से जागरूकता उत्पन्न करना, मानव अधिकारों के क्षेत्र में कार्य कर रही गैर–सरकारी संस्थाओं को प्रोत्साहन देना, मानव अधिकारों की प्रोन्नति के लिए अन्य आवश्यक कार्य करेगा। मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न वैधानिक एवं संवैधानिक उपाये किये गये हैं। इन उपायों को सच्चाई से क्रियान्वित करने के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति, समाज का सहयोग, विभेदकारी नीति का परित्याग एवं सामाजिक समरसता की आवश्यकता है क्योंकि स्वस्थ एवं सुदृढ़ समाज का सुसंगठित स्वरूप उस समाज के स्वस्थ नागरिकों के मनोबल, कर्तव्य परायणता, प्रोन्नतियुक्त आकांक्षा एवं सामाजिक दृष्टि पर निर्भर करता है। मानवीय मूल्यों एवं आदर्शों के अनुपालन से समदृष्टा, सर्वहिताय एवं समानता के सिद्धांतों की रक्षा हो सकती है। यही सिद्धांत मानवीय अभिलाषा की प्रतिपूर्ति के विधिक रूप से अधिकारों के रूप में मानव के लिए आवश्यक हैं। इसलिए ये आवश्यकतायें विश्व के समस्त मानव की एक समान आवश्यकताएं हैं क्योंकि मानव स्वतन्त्र पैदा होता है और वर्तमान में राज्य मानव की इस स्वतन्त्रता का रक्षक है। राज्य के सत्तासीन शासक लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं इसलिए उन्हें मानवाधिकारों की रक्षा के लिए बुद्धिमत्ता से कार्य करना चाहिए।

सन्दर्भ–

1. गोंड, तृतीय सत्र, भाग प्रथम, पृ0 934
2. लोक गणराज्य चीन का संविधान 1982, अनुच्छेद 33
3. अनुच्छेद 35
4. अनुच्छेद 37
5. अनुच्छेद 38
6. अनुच्छेद 41
7. अनुच्छेद 42
8. अनुच्छेद 45
9. अनुच्छेद 46
10. अनुच्छेद 48–49
11. भारत का संविधान, अनुच्छेद 12 से 35
12. भारत का संविधान, अनुच्छेद 36–51
13. संविधान (चवालीसवां संशोधन) अधिनियम 1978 धारा 9, बयालीसवां संविधान संशोधन अधिनियम 1976 की धारा 7, 8, 9, 10 एवं संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम 1956 की धारा 271
14. उन्नीकृष्णन जे0पी0 बनाम स्टेट आफ आ0प्र0 अ0आई0आर0 1993 एस0सी0 2178
15. ए0आई0आर0 1973 सु0को0 1461, (1973) 2 उम0नि0प0 159
16. ए0आई0आर0 1983 सु0को0 624
17. भारत का संविधान अनुच्छेद 39(क) (घ) (ङ) एवं (च)
18. अनुच्छेद 39क, 40, 44 एवं 51
19. अनुच्छेद 41, 42, 43, 43क, 45 एवं 46 19क. संविधान (सतरहवां संशोधन) अधिनियम 1995 की धारा 2 द्वारा अनुच्छेद 16 (4–क) समाहित किया गया
20. अनुच्छेद 17, 18 एवं 19
21. अनुच्छेद 20, 21, 22
22. अनुच्छेद 23 व 24
23. अनुच्छेद 25 से 28 एवं 30
24. अनुच्छेद 32
25. अनुच्छेद 14 एवं 21
26. शिवदत्त शर्मा, मानवाधिकारों का सजग प्रहरी–नैसर्गिक न्याय, विधायिनी, जुलाई–दिसम्बर, 1994, पृ0 14
27. ए0आई0आर0 1981, एस0सी0 746
28. ए0आई0आर0 1984, एस0सी0 802
29. ए0आई0आर0 1963, एस0सी0 1295
30. ए0आई0आर0 1997, एस0सी0 1225
31. ए0आई0आर0 1997 एस0सी0 1203 नीलावती बीहीरा उर्फ बीहीरा बनाम उड़ीसा राज्य (1993) 2 एस0सी0सी0 746, डी0के0 बसु बनाम पश्चिमी बंगाल 1996(9) स्केल 298
32. संविधान (बयालीसवां संशोधन) अधिनियम 1976 की धारा 10 द्वारा अन्तःस्थापित
33. बयालीसवां संविधान संशोधन 1976 द्वारा अन्तःस्थापित
34. (1988) 1 एस0सी0सी0 47
35. द हिन्दुस्तान टाइम्स, न्यू दिल्ली, अक्टूबर, 1996, पृ0 12

*सहायक प्राध्यापक, विधि संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005

अनुसूचित जातियों की समस्याएँ एवं संवैधानिक अधिनियम

राम अवतार राम*

भारत का यह दुर्भाग्य है कि इस देश की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा सदियों से न केवल अत्यन्त पिछड़ा, अपितु समाज द्वारा उत्पीड़ित, लांछित व अवहेलना के बोझ से त्रासित रहा है। इस कारण ये लोग अनेक प्रकार की गम्भीर समस्याओं से जूझते रहे है और अमानवीय जीवन जीते रहे है। स्वतंत्रता प्रप्ति के बाद राष्ट्रीय सरकार का ध्यान इनकी ओर गया और संविधान में भी इनको सुविधाएँ प्रदान की गयी। साथ ही इन लोगों को कुछ सुविधाएँ एवं संरक्षण करने के लिए इनको एक अनुसूची के अन्तर्गत रखा गया। इसीलिए इन्हें अनुसूचित जाति कहा जाता है।''

शूद्रों की स्थिति प्राचीन काल में अत्यन्त निम्न थी। शूद्रों को मन्दिर, सार्वजनिक स्थानों तथा कुआं, तलाबों या नदी का प्रयोग वर्जित था। सन् 1930 में भारत सरकार ने शूद्रों के लिए एक उचित शब्द ढूढने की चेष्टा की जिससे इसके सम्बन्ध में कानूनी या प्रशासकीय कार्यवाही की जा सके। भारत सरकार के एक्ट 1935 सेक्सन 309 के अनुसार 'साइमन कमीशन' ने इनकों अनुसूचित जाति का नाम दे दिया। भारतवर्ष के विभिन्न हिस्सों में इन अछूत जातियों को अनूसचित वर्ग में रखा गया और यह विभाजन भारतीय संविधान 1950 में भी स्वीकार किया गया।

भारत सरकार अधिनियम 1935 में सर्वप्रथम 'अनुसूचित जाति' शब्द का अनुप्रयोग किया गया था जबकि संविधान के अनुच्छेद 341 में 'अनुसूचित जाति' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह एक विशेष जातीय समूह है, जिसमें 542 जातियाँ शामिल है व आर्थिक एवं सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से लगभग एक जैसी है। इनमें से 81.28 प्रतिशत लोग गाँवों में रहते है और उनका प्रमुख आय स्रोत कृषि है। स्वतंत्रता के समय देश में अनुसूचित जातियों की संख्या 5.17 करोड़ थी जो बढ़कर 1981 में 10.47 करोड़ तथा 1991 में 13.82 करोड़ हो गयी थी। प्रतिशत की दृष्टि से 1991 में अनुसूचित जातियाँ 16.48 प्रतिशत थी जो 1981 की तुलना में 32.0 प्रतिशत अधिक थी। 2001 की जनगणना के अनुसार यह 16.2 प्रतिशत है। 2001 के जनगणना के अनुसार अनुसूचित जातियों कि जनसंख्या 16,66,35,700 है।[1]

डॉ0 डी0 एन0 मजूमदार ने स्पष्ट लिखा है कि ''अस्पृश्य जातियाँ वे है जो अनेक सामाजिक और नैतिक नियोग्यताओं का शिकार है, इनमें से अनेक नियोग्यताए उच्च जातियों द्वारा परम्परागत तौर पर निर्धारित और सामाजिक तौर पर लागू की गयी है।''[2]

हिन्दू धर्म की प्रमुख विशेषता संस्कृतियों की अनेकता है। इसमें प्रत्येक जातियों का समूह ही नही बल्कि प्रत्येक उपजाति का भोजन, पहनावा, पूजन विवाह इत्यादि में अपनी एक अलग जीवन शैली रखती है।

अनुसूचित जातियों की समस्याएँ : भारत में स्मृतिकालीन हिन्दू धर्म के अन्तर्गत इन जातियों का सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक आधार पर जितना शोषण होता रहा, उससे सभी परिचित है। इसमें सन्देह नहीं है कि भारत में स्वंतत्रता से लेकर आज तक अनुसूचित जातियों की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति में सुधार नहीं हुआ है लेकिन सुधार बहुत ही अल्पमात्रा में हुआ है। वर्तमान समय में अनुसूचित जाति के लोग अनेक समस्याओं से घिरे हुए है। अनुसूचित जाति की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में रहती है और गाँवों की समाजिक–आर्थिक परिस्थितिया उनके लिए अनुकूल नही है। अनुसूचित जातियों की प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित है।–

1. नौकरियों में कम प्रतिनिधित्व : – अनुसूचित जातियों का नौकरियों मे प्रतिनिधित्व बहुत कम है। अनुसूचित जातियों की 95 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन रकती है। केन्द्र सरकार की सेवाओं में अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व निम्न है–

समूह	कुल पद	अनुसूचित जाति
समूह–ए	80589	11.9%
समूह–बी	1,39,958	13.7%
समूह–सी	20,36,103	16.4%
समूह–डी	8,48,398	22.2%
कुल पद	31,05,048	5,50,989%

उपरोक्त आकड़ो से स्पष्ट है कि अनुसूचित जातियों का सरकारी नौकरियों मे प्रतिनिधित्व बहुत कम है। उच्च शिक्षा में अनुसूचित की स्थिति बहुत ही दयनीय है।

1. उद्यमिता में कमी : आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए उद्योगों में सहयोग करना किसी भी समूह के लिए सबसे अधिक आवश्यक होता है। अनुसूचित जाति के लोग शिक्षा प्राप्त करके अपना आर्थिक विकास करना चाहते है, वे सरकारी नौकरियों में अधिक रूचि लेते है, स्वतंत्र रूप से उद्योगों की स्थापना में अधिक रूचि नहीं लेते। इसके फलस्वरूप आज धीरे–धीरे अनुसूचित जातियों में भी बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होनी प्रारम्भ हो गयी।[4]

2. आर्थिक समस्याएँ : आर्थिक समस्यां के कारण अनुसूचित

विश्वविद्यालय	प्रोफेसर		एसो0 प्रोफेसर		असि0 प्रोफेसर	
	कुल	अनु0 जाति	कुल	अनु0 जाति	कुल	अनु0 जाति
1. अलीगढ़ विश्वविद्यालय	170	0	357	01	857	0
2. बी0एच0यू0, वाराणसी	346	0	680	0	1367	103
3. देलही विश्वविद्यालय	305	0	644	0	681	52
4. J.N.U देहली	161	0	288	0	271	34
5. हैदराबाद विश्वविद्यालय	95	5	143	10	282	24

जातियों की आर्थिक स्थिति, इतनी दयनीय हो गयी कि इन्हें विवश होकर, सवर्णों के झूठे भोजन, फटे–पुराने वस्त्रों एवं त्याज्य वस्तुओं से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ी। अनुसूचित जाति के लोगों को मल–मूत्र उठाने, सफाई करने, मरे हुए पशुओं को उठाने और उनके चमड़े से वस्तुएँ बनाने का कार्य सौंपा गया। इन्हें खेती करने, व्यापार चलाने या शिक्षा प्राप्त कर नौकरी करने का अधिकार नहीं दिया गया। इन्हें भूमि अधिकार तथा धन संग्रह की आज्ञा नहीं दी गयी। इन लोगों को दासों के रूप में अपने स्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी। अनुसूचित जातियों को घृणित से घृणित कार्य करने के लिए बाध्य किया गया।[5] अनुसूचित जातियों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त निम्न है।

3. शिक्षा के प्रति उदासीनता : वास्तव में किसी भी वर्ग का सामाजिक एवं आर्थिक विकास का एक बड़ी सीमा तक उसके शैक्षणिक विकास पर निर्भर होता है। अनुसूचित जाति का एक प्रमुख समस्या यह है कि सरकार द्वारा निःशुल्क शिक्षा एवं छात्र–वृत्तियों की सुविधा देने के बाद भी उनमें शिक्षा के प्रति अधिक जागरूकता विकसित नहीं हुई। वे शिक्षा के प्रति उदासीन होते है। अनुसूचित जाति के लोग गरीबी के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते और अपने बच्चों को शिक्षा देना इसलिए भी बन्द कर देते है जिससे वे जीविकोपार्जन में हाथ बटा सके।

अनुसूचित जाति की साक्षरता– 2001 में निम्न है–

साक्षरों की संख्या	साक्षरता का प्रतिशत	
व्यक्ति	7,53,18,285	54.72%
पुरुष	4,74,32,887	66.60%
स्त्री	2,78,85,398	41.90%

उपरोक्त ऑकड़ों से स्पष्ट है कि अनुसूचित जातियों में साक्षारता बहुत कम है। भारत मे साक्षारता 2001 में 64.841% है जिसमें पुरुष 75.26% और महिलाएँ 53.67% साक्षर है वही पर अनुसूचित जाति की साक्षरता 54.72% जिसमें पुरुष 66.60% और महिलाएँ 41.90% साक्षर है।

1. राजनीतिक विरोध : अनुसूचित जाति की वर्तमान समस्या का एक नया रूप आज राजनैतिक विरोध के रूप में स्पष्ट होने लगा है। अनुसूचित जातियों को लोकसभा में 79 स्थान तथा विधानसभा में 557 स्थान सुरक्षित किया गया है। अनुसूचित जातियों के सुरक्षित स्थान को छोड़कर अन्य स्थानों पर किसी भी प्रत्याशी को उच्च जाति के लोग अपना समर्थन देना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते है। इसके फलस्वरूप अनुसूचित जातियों में निराशा और कुण्ठा विकसित होने लगी है।

2. अन्तर्जातीयं संघर्ष की समस्या : अनुसूचित जातियों की एक और बड़ी समस्या अन्तर्जातीय संघर्ष की है। यह संघर्ष संख्या–शक्ति या आर्थिक अथवा राजनैतिक शक्ति के आधार पर घटित होती है। प्रो0 एम0एन0 श्रीनिवास ने लिखा है कि यह जरूरी नही कि प्रभुत्व स्थापना करने वाले, उच्च जाति के ही सदस्य हो, वे अनुसूचित जाति के भी सदस्य हो सकते है। डा0 दूबे के अनुसार इस प्रकार के संघर्ष उसी अवस्था में सम्भव है जब शक्ति सम्पन्न जाति में एकता हो।[6]

3. अनुसूचित जातियों में ही भेदभाव की समस्या : अनुसूचित का आपस में ही भेदभाव बरतना स्वयं में ही एक गम्भीर समस्या है। आश्चर्य की बात यह है कि अनुसूचित जातियों में आपस में ही छुआछूत की भावना है। प्रो0 पणिक्कर ने लिखा है कि अनुसूचित जातियों का भी अलग–अलग एक जातीय संगठन है अैर उच्च जातियों की भाँति उनमें भी असंख्य उपजातियाँ है जिनमें से प्रत्येक अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने का प्रयत्न करती है।

4. सामाजिक समस्याएँ : अनुसूचित जाति के लोगों को मंदिर में प्रवेश पवित्र नदी घाटों का प्रयोग, पवित्र स्थानों पर जाने तथा अपने ही घर पर देवी–देवताओं की पूजा करने का अधिकार नहीं दिया गया और इसी कारण शुद्धिकरण के लिए संस्कारों की व्यवस्था नहीं की गयी है। अनुसूचित जातियों का सवर्णों ने पारस्परिक सम्पर्क रखने और उनके सम्मेलनों, पंचायतों, उत्सवों एवं समारोहों में भाग लेने की आज्ञा नही दी गयी।

अनुसूचित जातियों को संवैधानिक व्यवस्थाएँ :

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना से अश्पृस्यता में कोई परिवर्तन नही हुआ लेकिन अंग्रेजों के आने से अश्पृस्य जातियों की नियोग्यताँ धीरे–धीरे कम हुई। भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों की स्थिति में सुधार के लिए अनेक धाराओं का वर्णन किया गया है–

1. अनुच्छेद 15 – (1) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म–स्थान अथवा इनमें से किसी आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। (2) केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म स्थान अथवा इनमें से किसी आधार पर किसी नागरिक को दुकानों, सार्वजनिक भोजनालय, होटल, सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों, कुओं, तलाबों, सड़कों का उपभोग करने में विभेद नहीं किया जायेगा।[7]

2. अनुच्छेद 16 – राज्याधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में समस्त नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी। केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान, निवास अथवा इनमें से किसी आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्यधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जायेगा।

3. अनुच्छेद 17 – अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और इसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी नियोग्यता को लागू करना अपराध होगा। जो कानून के अनुसार दण्डनीय होगा।

4. अनुच्छेद 19 – अस्पृश्य जातियों को सभी प्रकार के प्रमुख व्यवसायों और धन्धों को करने का समान अधिकार दिया गया है।

5. अनुच्छेद 25 – हिन्दुओं के सार्वजनिक, धार्मिक स्थानों के द्वार सभी जातियों के लिए खोल देने की व्यवस्था की गयी है।

6. अनुच्छेद 25 – राज्य द्वारा पूर्णतया या आंशिक सहायता प्राप्त करने वाली किसी भी शिक्षा संस्था में किसी नागरिक को धर्म, जाति वंश अथवा भाषा के आधार पर प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता है।

7. अनुच्छेद 38 – राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की भरसक कार्यसाधन रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोककल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनु

युवाओं के फैशन में मीडिया का प्रभाव

राधेश्याम दीक्षित*

वर्तमान समय में भारत में फैशन के साथ मीडिया का बहुत घनिष्ठ रूप से जुड़ाव है और युवाओं में फैशन के प्रचार प्रसार में अग्रणी भूमिका निभा रहा है। चाहे प्रिन्ट मीडिया हो या इलेक्ट्रानिक मीडिया दोनो ही फैशन के प्रति युवाओं को आकर्षित करने में कहीं कोई कमी नहीं छोड़ने में पीछे नहीं रहना चाहता है। यही कारण है कि युवा वर्ग आज पाश्चात्य शैली में अपने को ढालने का काफी प्रयास कर रहा है।

"फैशन" शब्द प्रत्येक व्यक्ति से जुड़ा है तथा एक विस्तृत अर्थ का बोध कराता है। वर्तमान समय में फैशन शब्द से अभिप्राय व्यक्ति के वेश–भूषा, रहन–सहन तथा पाश्चात्य जीवन शैली के अंधानुकरण से ही लिया जाता है किन्तु फैशन का अत्यन्त विस्तृत अर्थ है जिसमें अपने देश की सभ्यता, संस्कृति, जीवन शैली, आचार–विचार इत्यादि सम्मिलित है।

वर्तमान समय में फैशन मीडिया के लिए आवश्यक विषय के रूप में उभरा है, क्योंकि यह हर व्यक्ति के जीवन से सीधा सम्बन्ध है। यही कारण है कि संचार के समस्त साधनों जैसे–पत्र–पत्रिकायें, दूरदर्शन, फिल्म व पोस्टर आदि फैशन पर विशेष सामग्री व जानकारियां पाठकों व दर्शकों को परोसने में अपनी–अपनी भूमिका निभा रहे हैं।

वस्तुतः भारत में रहने वाले प्रत्येक भाग के व्यक्तियों के अपने–अपने विशिष्ट प्रकार के परिधान, आभूषण और जीवन पद्धति है। प्रत्येक वस्त्रों के साथ–साथ आभूषणों का अत्यधिक महत्व है। प्रत्येक वस्त्र के साथ विशिष्ट प्रकार के आभूषण पहनने के चलन भारतीय फैशन को नया आयाम देता रहा है। आज भारत के अनेक फैशन डिजायनर विश्व स्तर पर अपना नाम परम्परागत फैशन के द्वारा ही प्राप्त कर सके हैं और विश्व फैशन में अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय निर्माण में जहाँ एक ओर युवा वर्ग पाश्चात्य फैशन की ओर आकर्षित है वहीं दूसरी ओर यही युवा वर्ग परम्परागत फैशन के प्रति गर्व का अनुभव करते हैं तथा पाश्चात्य वेश–भूषा व रहन–सहन और फैशन के साथ–साथ भारतीय रहन–सहन व वेश–भूषा से जुड़े हुए हैं।

आधुनिक भारतीय समाज पाश्चात्य फैशन की हवा में बह रहा है। पश्चिमीकरण न केवल हमारी फैशन अपितु जीवन शैली रहन–सहन, खान–पान इत्यादि में आमूल–चूल परिवर्तन कर दिया है। जिसका अत्यधिक प्रभाव हम युवा वर्ग पर देख सकते हैं। यदि हम पाश्चात्य फैशन को देखें तो यह यूरोपियन के आगमन से शुरू होता है। भारत में अंग्रेजी के प्रारम्भ से ही अंग्रेजों के रहन–सहन व वेश–भूषा व जीवन शैली के प्रति लोगों में विशेष कर उच्च वर्ग में उत्सुकता बनी है। देश के सम्पन्न वर्ग विदेशों से वस्त्र, कारें तथा अन्य सुविधा की वस्तुयें मंगाने लगे तथा विदेशी की तरह रहना प्रारम्भ कर दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत का एक वर्ग अंग्रेजी जीवन पद्धति व फैशन को अपना चुका था, वस्तुतः यही कारण था कि स्वतन्त्रता संग्राम में गांधी जी ने अंग्रेजों के लिए स्वदेशी आन्दोलन चलाया व विदेशी वस्त्रों को जलाने का आह्वान किया था। परन्तु वर्तमान समय में ग्लोबलाइजेशन और सूचना क्रान्ति का दौर है और सम्पूर्ण विश्व एक गांव बन कर रह गया है। जिससे पाश्चात्य फैशन का प्रभाव भारत पर अत्यधिक पड़ा है। भारत में उदारीकरण के पश्चात अनेक विदेशी कम्पनियों ने जहां भारत की तरफ रूख किया है वहीं दूसरी ओर भारत में रोजगार के अवसर बढ़े हैं और लोगों के जीवन शैली में बदलाव आया है। आज हर युवा वर्ग डिजायनर कपड़ों, ब्रान्डेड सामानों और विदेशी स्टाइल में जीना पसन्द करता है। भारतीय समाज को पाश्चात्य फैशन ने पूरी तरह से झकझोर कर रख दिया है। वस्तुतः आज जीन्स संस्कृति का विकास हो रहा है। हर व्यक्ति एक दूसरे से आगे निकलने के होड़ में है। जीन्स, टी–शर्ट, टाप, चश्में बाइक, बाल, फिटनेश स्मार्ट इत्यादि शब्द भारतीय युवा वर्ग की पहचान बन कर उभरे हैं। पाश्चात्य फैशन ने पूरी तरह से युवाओं को प्रभावित किया है तथा आज युवा वर्ग परम्परागत फैशन से कटता चला जा रहा है। भारत में पाश्चात्य फैशन फिल्में, टी० वी०, पत्र–पत्रिकाएं इत्यादि के माध्यम से लोगों के बीच आ रहा है। जिसका अनुकरण करने से युवा वर्ग कहीं से कोई कमी नहीं छोड़ना चाह रहा है। आज रोज ही फैशन शो, फैशन प्रतियोगितायें इत्यादि आयोजित की जा रही है। केबिल पर फैशन का एक चैनल ही है जो वर्तमान के पोशाक को टी० वी० पर दिखा कर आशा करता है कि लोग इसी तरह पहन कर समाज में प्रचार प्रसार करें।

फैशन प्रत्येक व्यक्ति से जुड़ा हुआ विषय है। इसलिए मीडिया द्वारा इस विषय पर सामग्री दिखाया जाना और प्रकाशित करना स्वाभाविक और अपेक्षित है। वर्तमान समय के दौर में फैशन के प्रचार–प्रसार में इलेक्ट्रानिक मीडिया व प्रिन्ट मीडिया अपने–अपने ढंग से महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। प्रायः सभी न्यूज चैनल, पत्र–पत्रिकाएं इत्यादि फैशन से जुड़ी छोटी से छोटी घटनाओं को आम जनता तक पहुंचाती है। आम जनता के व्यवहारिक पहलू को देखें तो एक बहुत बड़ा वर्ग फिल्मों के माध्यम से फैशन के बारे में परिचित होता है और किसी विशेष फैशन का अनुकरण करने लगता है। प्रायः यह देखा जाता है कि किसी भी फिल्म के किसी नायक या नायिका द्वारा पहने गए वस्त्र व चाल ढाल युवाओं को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। फिल्में आप व्यक्ति के रहन–सहन वेश–भूषा पर सीधा असर डालती हैं। फिल्में व्यक्तियों को फैशन के बारे में जानकारी देने का सरल और सस्ता माध्यम हैं। अतः फिल्मों के साथ टी० वी० सीरियल फैशन को व इन्टरनेट फैशन के विकास में महत्पूर्ण भूमिका निभाते हैं। आज टी०वी० सीरियल प्रायः नियमित रूप से टी० वी० पर प्रसारित होते हैं तथा एक बहुत बड़ा वर्ग इसका दर्शक है। इन सीरियलों में दिखाये जाने वाले वेश भूषा, आभूषण, घर की आन्तरिक साज–सज्जा, चाल–ढाल इत्यादि का दर्शकों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और लोग विभिन्न प्रकार के फैशन से परिचित होते हैं तथा उसका अनुकरण करते हैं। टी० वी० सीरियल के साथ फैशन शो, फिल्मी फैशन पत्र–पत्रिकाएं इत्यादि भी फैशन की नवीन विधाओं के साथ–साथ परम्परागत फैशन पर अनेक सामग्री उपलब्ध कराती हैं। इन संचार माध्यमों द्वारा फैशन डिजायनर अपने डिजाइन किए हुए कपड़ों का प्रदर्शन करते हैं। जिससे लोगों को उनके बारे में जानकारी होती है। इसके अलावा खेल, फैशन शो, प्रतियोगिता इत्यादि भी फैशन के वर्तमाान धाराओं को प्रतिविम्बित करती हैं। मीडिया फैशन से लोगों को प्रभावित करती है। इस प्रकार संचार के

प्रन्नणित करे।

8. अनुच्छेद 46 – राज्य जनता के दुर्बलतम विभागों की विशेषतया अनुसूचित जातियों की शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा। तथा सामाजिक अन्याय व सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

9. अनुच्छेद 164 तथा 338 – अनुसूचित जातियों के कल्याण और हितों के उद्देश्य से राज्य में सलाहकार परिषदों तथा पृथक विभागों की स्थापना की जाय और केन्द्र में एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाय।

10. अनुच्छेद 330,332,334 – अनुसूचित जातियों के लिए लोकसभा में 79 और राज्य की विधान सभाओं के 4047 स्थानों में 557 स्थान सुरक्षित है। ग्राम पंचायतों में एवं स्थानीय निकायों में संख्या के आधार स्थान सुरक्षित रखा गया है।

11. सरकारी नौकरियों मे प्रतिनिधित्व – खुली प्रतियोगिता में अखिल भारतीय स्तर पर 15% तथा अन्य प्रकार से की जाने वाली नियुक्तियों में 16,2/3% स्थान अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षित है।

12. नागरिक अधिकार संरक्षण कानून 1976 – केन्द्रीय सरकार के प्रयास से अस्पृश्यता के अपराध के लिए कड़े दण्ड व प्रावधान का नया कानून श्रीमती इन्दिरा गाँधी के जन्मदिन 19 नवम्बर 1976 से लागू कर दिया गया।

निष्कर्ष : जाति प्रथा के अन्तर्गत चार प्रमुख जातियाँ–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व तथा शुद्र है। इन चारों के अतिरिक्त एक पंचम वर्ग भी है जिसके सदस्यों को परम्परागत रूप से अस्पृश्य या अछूत कहा जाता है। अनुसूचित जातियों की अधिकांश जनसंख्या गाँवों में रहती है और गाँव की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नहीं है। ये लोग सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आपसी भेदभाव व अन्तराष्ट्रीय संघर्ष की समस्या से ग्रस्त है। भारतीय संविधान में अनुसूचित जातियों के संरक्षण व उत्थान के लिए अनेक अधिनियमों का प्रावधान किया गया है। ताकि अनुसूचित जातियों के प्रस्थितियों में सुधार हो सके।

संदर्भ :

1. जनसंख्या एवं नगरीकरण (बौद्धिक प्रकाशन) – एस0 के0 ओझा पृष्ठ–19।
2. डॉ0 डी0 एन0 मजूमदार पृष्ठ–326।
3. प्रबुद्ध विहार–जनवरी–जून–2010 महेश प्रसाद अहिखार, पृष्ठ–55।
4. समाजशास्त्र– एस0पी0गुप्ता व जी0 के अग्रवाल, पृष्ठ 452।
5. समाजशास्त्र (साहित्य भवन पब्लिकेशन) प्रो0 एम0एल0 गुप्ता व डी0 डी0 शर्मा, पृष्ठ 411।
6. प्रारम्भिक समाजशास्त्र– आर0 एन0 मुखर्जी व भरत अग्रवाल, पृष्ठ–387।
7. भारतीय समाज तथा संस्कृति– रवीन्द्र नाथ मुखर्जी, पृष्ठ–393।

*प्रवक्ता (समाजशास्त्र) महात्मा गाँधी इण्टर कॉलेज, बृजमनगंज, महराजगंज (उ0 प्र0)

साथ–साथ नए व फैशन की परम्परागत व आधुनिक विचारधाराओं का विकास तेजी से हो रहा है।

फैशन जगह के अनुसार अपना रंग बदलता है। फैशन का शादियों में रूप कुछ होता है, नाइट क्लबों और डिस्को में कुछ और। सलवार कुर्ते फैशन को लेकर सबसे ज्यादा प्रयोगात्मक हुए हैं। सलवारों के अनगिनत नए स्टाइल भी मौजूद हैं। फैशन ने स्कर्ट की दुनिया भी बदली है। आज के फैशनेबुल स्कर्ट के नाम जीब्सी, मिनी और ए लाइन है। साड़ी और स्कर्ट के साथ–साथ पहने जाने वाले ब्लाउजों की शक्लें भी बहुत बदली है। ब्लाउज कभी कुर्ती, कभी कमीज, कभी शर्ट, कभी गंजी और कभी स्ट्रेप लेस टाप की शक्ल ले लेता है। स्कर्ट आपको अच्छा लुक देता है। स्कर्ट या जीन्स पर पहनी जाने वाली बेल्ट पर दिल खोल कर खर्च किया जाता है। पिंडली तक की लम्बी स्कर्ट आज के फैशन में है। मिनी स्कर्ट पहनने के शौकीनों को अपनी टांगों की खूबसूरती का खास ख्याल रखना पड़ता है। डिजायनर फैशन की सेल्फ लाइफ जीरो होती है। लेकिन डिजाइन जब तक जिन्दा रहता है व्यक्ति को हीरो बनाए रखता है। फैशन और स्टाइल से उम्र को धकियाने में भी बहुत मदद मिलती है। फैशन 35 की उम्र को 25 जैसा नहीं लगने देता, पचपन और साठ की चपेट में आयी महिला भी फैशन के बल बूते उम्र को चकमा देने में कामयाब हो जाती हैं।

फैशनेबल कहलाना है तो किसी एक रंग से मोह को भी त्यागना होगा। किसी एक रंग की कैद से मुक्त हों और रंगों से खेलने से ना हिचकें। सर्दी के रंग या गर्मी के रंग फैशन में, मौसम के दखल को भी बखूबी समझें। फैशन के सच्चे अनुयायी फैशन फाल का लुत्फ उठाना भी जानते हैं।

फैशन का इस्तेमाल अपनी लुक को अपडेट करने के लिए करें। सिम्पल स्टाइल अपनाएं और अपनी नारी सुलभ कोमलता को नष्ट न होने दें। फैशन अपनाते समय इस बात का खास ध्यान रखें कि आपकी सौम्यता और पहचान आपके द्वारा अपनाए गए स्टाइल में अवश्य झलके।

कुछ लोगों को यह गलतफहमी होती है कि फैशन से रूचि रखना बौद्धिक स्तर में आयी गिरावट को दर्शाता है। ऐसा सोचना गलत है। फैशन युवाओं की क्षमताओं में कमी पैदा नहीं करता, बल्कि फैशन की खास बात यह है कि इसकी मदद से व्यक्तित्व में खास किस्म के बदलाव लाने में मदद मिलती है जो आपको महसूस करा सकती है। फैशन की घड़ी का पेण्डुलम जितनी दूरी तक झूल सकता है, झूलता है। फैशन अपने आप में आत्मविश्वास की जादुई पुड़िया है। फैशन को बाहें पसार कर अपनाएं। चलिए फिर थोड़ा फैशनुबल बन जाएं।

सन्दर्भ–

1. हिन्दुस्तान समाचार पत्र–वाराणसी से प्रकाशित
2. वनिता पत्रिका–नई दिल्ली से प्रकाशित
3. गृह लक्ष्मी–नई दिल्ली से प्रकाशित
4. सरस सलिल–नई दिल्ली से प्रकाशित
5. मनोहर कहानियां–नई दिल्ली से प्रकाशित
6. गृह शोभा–नई दिल्ली से प्रकाशित
7. सरिता–नई दिल्ली से प्रकाशित
8. दैनिक जागरण–वाराणसी से प्रकाशित

*शोध छात्र, पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग
म0गां0 काशी विद्यापीठ, वाराणसी

बौद्ध साहित्य में आर्थिक जीवन

अभिमन्यु प्रताप सिंह*

लगभग ईसा पूर्व 700 से लोहे का प्रयोग कृषि में पहले की अपेक्षा अधिक होने लगा। इससे उत्पादन में वृद्धि हुई और कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती, उज्जयिनी, वैशाली, पाटलिपुत्र आदि नगरों का उत्थान हुआ। ये नगर व्यापारिक मार्गों पर स्थित थे इसलिए व्यापार की बहुत उन्नति हुई। इन चारों नगरों मे सुनारों, बढ़इयों, रेशम का कपड़ा, बुनने बालो और हाथीदांत का काम करने वालो की अपनी अलग–अलग श्रेणियाँ थीं, प्रत्येक श्रेणी के मुखिया को 'जेट्ठक' कहते थे। 'सेट्ठि' जादूगर का काम करते थे और व्यापार भी स्वयं करते थे। शहरों में दूसरा वर्ग कारीगरों का था।

शहरों में 'सेट्ठियों' और 'जेट्ठकों' का बहुत सम्मान था। राजा भी उनका आदर करते थे। गावों में बड़े किसान जिनके पास काफी भूमि होती थी गहपति (गृहपति) कहलाते थे। कृषि की उन्नति होने के कारण वे बहुत धनी हो गये थे।

रामशरण शर्मा का मत है कि बौद्ध धर्म के सिद्धांत नई कृषि व्यवस्था के अनुकूल थे इसलिए अन्न का अधिक उत्पादन हुआ। कृषि में अधिशेष अन्न उपलब्ध होने के कारण साधारण किसान की आर्थिक दशा में भी सुधार हुआ।[1] किसान स्वयं खेती करते थे और इस कार्य में मजदूरों की भी सहायता लेते थे। कृषि की उन्नति का प्रमुख कारण सम्भवतः लोहे के काल का प्रयोग था। इसी काल में एक लोहे का फाल एटा जिले में उत्खनन में मिला है पाणिनी से हमें ज्ञात होता है कि इस समय कुछ खेतों को दो या तीन बार तक जोता जाता था। सम्भवतः अब किसान पहले से अच्छे औजार जैसे कि लोहे की कुल्हाड़ी, दरांती आदि का प्रयोग करने लगे।[2] इसी कारण वे अधिशेष अन्न का उत्पादन करने लगे। जिसका उपभोग नगरों के निवासी करते थे। इस प्रकार गौतम बुद्ध के जीवन काल में दूसरे नगरीकरण की प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ। इस काल में शिल्प की बहुत उन्नति हुई। अलग–अलग शिल्प अलग–अलग गाँवों में उन्नति कर रहे थे। शिल्पियों ने अपनी अलग–अलग श्रेणियाँ बना ली थी। इनमें राजा, लुहारी, बढ़इयों, सोना–चांदी के काम करने वालों, जुलाहों, तेलियों, टोकरी बनाने वालों, रंगरेजों, चित्रकारों और मालियों की श्रेणियों का उल्लेख मिलता है। इस काल में लुहार, नाइयों, धोबियों और जुलाहों ने भी अपनी अलग–अलग जातियाँ बना ली थी। इस काल में मुद्रा प्रणाली का भी प्रचलन प्रारंभ हो गया था। लगभग पूरे भारत में चाँदी के आहत सिक्कों के सैकड़ों चुंम मिले ही, मुद्राओं के प्रचलन से व्यापार को भी प्रोत्साहन मिला था।

नई कृषि प्रणाली, मुद्रा प्रणाली के प्रचलन तथा उद्योगों और व्यापार की उन्नति के शासक और व्यापारी दोनों अत्याधिक धनाढ्य हो रहे थे। किन्तु जनसाधारण की आर्थिक दशा में विशेष सुधार नहीं हुआ।[3]

उत्तर–पूर्व भारत की प्राचीन जनजातीय (कबायली) जीवन प्रणाली में नई उत्पादन तकनीक ने क्रान्तिकारी प्रभाव डाला इस क्षेत्र के जनजातीय लोग छिट–पुट आबादी वाले ऊँची भूमि पर कुदाल से खेती करते थे और चावल तथा छोटे दाने वाली फसलों का उत्पादन करते थे। ये मांसाहार के लिये ही पशुओं को पालते थे, उनसे दूध प्राप्त करने के लिए अथवा उन्हें खेती में उपयोग करने के लिए नहीं।

गाँव के चातुर्दिक बाहर की ओर (ग्राम–क्षेत्र) होते थे। सीचनें वाली नालियों द्वारा खेत अनेक टुकड़ी में विभक्त होते थे। प्रायः खेतों के भाग छोटे ही होते थे। यद्यपि बड़े टुकड़ों का अभाव था। प्रत्येक परिवार के अपने खेत होते थे जो उसके स्वामी और उसके पुत्र अथवा उनके द्वारा लगाये हुए श्रमिकों द्वारा जोते जाते थे। ग्रामों में विशाल भूमि वाले जमीदारों, भिखारियों और अत्यन्त पतित व्यक्तियों का कोई उल्लेख नहीं है। चावल, तिल और गन्ने की उपज मुख्य थी। उपज में वृद्धि करने के हेतु सिचाई की पूर्ण व्यवस्था थी। नहरों और कुओं से सिंचाई होती थी, परन्तु नहरों की खुदाई सामुदायिक रूप से होती थी और गाँव का प्रमुख पानी के वितरण पर नियंत्रण रखता था। सिंचाई की नालियों द्वारा खेत अनेक टुकड़ों में विभक्त होते थे। खेतों की सीमाएँ साझे में होती थी। कुछ लोगों का मुख्य व्यवसाय पशुपालन नहीं था और कृषि के साथ–साथ पशुपालन को पूरक व्यवसाय के रूप में करते थे। जिन स्वामियों के अधिक पशु होते थे, उनको जंगल में बाड़ा बनाकर रखते थे। कुछ पहाड़ियों से घिरे स्थान में भी पशुओं को रखते थे।

यज्ञ विधान की परम्परा के कारण पशु वध विशेष रूप से प्रचलित था। कुरू पांचाल प्रदेश में विकसित कृषि के बावजूद मांसाहार के लिए पशुवध जारी था। किन्तु नवीन कृषि प्रणाली में कृषि कार्य के लिए अधिकाधिक पशुओं की आवश्यकता पड़ने लगी। लोग पशुओं की सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव करने लगे। पशु वध चाहे वैदिक यज्ञों में हो या उत्तर पूर्व में हो यह रूढ़ि अब अनावश्यक बन गई थी। वैदिक ग्रन्थों विशेष रूप से उपनिषदों में पशु वध की निंदा की गई है और अहिंसा के उपदेश दिए गए किन्तु ये उपदेश उतने प्रबल नहीं है जितने बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं, जिनमें पशुओं को सुरक्षा देने वाला (सुखदा) तथा अन्न देने वाला (आनन्दा) कहा गया है। कृषि के विकास के अतिरिक्त लौह उपकरणों के बढ़ते प्रयोग से अनेक शिल्पों तथा उद्योग धन्धों में भी प्रगति हुई। फलस्वरूप व्यवस्थापानों का पर्याप्त विकास तो हुआ ही नगरीकरण की युगान्तकारी प्रक्रिया भी उत्तर–पूर्व भारत में प्रारंभ हुई। पालि ग्रन्थों से उस समय मध्य गंगा घाटी में विकसित अनेक नगरों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनमें चंपा, राजगृह, वैशाली, वाराणसी, कौशाम्बी, कुशीनगर, श्रावस्ती तथा पाटलिपुत्र विशेष महत्वपूर्ण थे। ईसा पूर्व 600 से 300 के बीच देश भर में 60 नगरों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।[4] नगरों में स्वाभाविक रूप से अधिकतर शिल्पकार तथा छोटे बड़े व्यापारी रहते थे। इस काल में मुद्रा (आहत मुद्राओं) के प्रचलन के कारण व्यापार में व्यापक विस्तार हुआ। कृषि तथा व्यापार में क्रान्तिकारी विकास के कारण जीवन की परम्परागत मान्यताएँ टूटने लगी। शासक वर्ग तथा व्यापारी वर्ग अत्यधिक धनी होने लगे। निजी संपत्ति की धारणा दृढ़तर होने लगी और उसे सामाजिक मान्यता भी मिली।

ग्राम की शासन एवं कर व्यवस्था– गॉव–गॉव के शासन प्रबंध की व्यवस्था ग्राम के मुखिया ग्रामयोजक के अधिकृत गॉव की परिषद करती थी। ग्राम योजक ग्राम की परिषद या पंचायत द्वारा चुना जाता था न कि प्रदेश के राजा द्वारा। ग्राम–भोजक ही राजकर की, जो भूमि की उपज का छठे से बारहवें भाग तक होता था, वसूली के लिए उत्तरदायी था। यह राजकर अनाज के रूप में एकत्र किया जाता था और देश के अनेक भागों में स्थित अन्न–गोदामों में अकाल या शुष्कता के विरूद्ध सुरक्षा हेतु संग्रहित किया जाता था। ग्राम के कृषक साधारणतया संतुष्ट थे। उनमें सार्वजनिक हित के लिए सहयोगपूर्ण जीवन प्रणाली और दृढ़ नागरिक भावना का विकास हो चुका था। धार्मिक ग्रन्थ यह उल्लेख करते हैं कि स्वस्थ शरीर वाले

सामन्त ग्रामीण तालाबों, सड़कों, सिंचाई की नहरों आदि सार्वजनिक हित के कार्यों में परस्पर सहयोग देते थे। देहाती जनता में ग्राम कृषकों के अतिरिक्त बहुसंख्यक "गौपालक" होते थे जो पशुओं को चराया करते थे।

उद्योग व्यापार और शिल्प– ग्राम और नगर दोनों की आबादी का बहुसंख्यक भाग हस्त शिल्पकारों का था। व्यवसायों की जनसंख्या अधिक थी और इनमें हाथी दांत का कार्य करने वाले जुलाहे, चित्रकार और पाषाण काल के शिल्पियों की कमी न थी। कुछ शिल्पकारों **जुलाहों, चित्रकारों आदि के** व्यवसाय उनके कार्य की वृत्ति के अनुसार उच्च और निम्न श्रेणी के माने जाते थे। उदाहरण के लिए शिकारी, मछुए, चर्मकार, कसाई, सपेरे, संगीतज्ञ, नृत्य और अभिनय करने वाले आभूषणों व रत्नों का कार्य करने वाले हलवाई, धातुकार, कुम्हार, माली, नाई, धनुष–बाण बनाने वाले आदि की अपेक्षा निम्न श्रेणी के माने जाते थे। शिल्प कलाओं में लोग पूर्ण दक्षता प्राप्त कर चुके थे। कुछ व्यवसायों में अत्यधिक विशिष्टीकरण हो चुका था। परन्तु वे व्यवसाय स्थानीय थे और कुछ परिवारों तक ही सीमित थे। साधारणतः पेशे कुलागत हो चुके थे फिर भी दूसरों के पेशे अपनाने में कोई असुविधा नहीं थी, क्योंकि वर्ण या जाति के अनुकूल सर्वदा व्यवसाय या वृत्त चुनने की अनिवार्यता नहीं थी यही वजह है कभी–कभी जुलाहे को धर्नुधर बनते, क्षत्रिय को कृषि करते और ब्राह्मण को सुनारी, पशुपालन या वाणिज्य व्यवसाय करते पाया गये हैं। एक ही धंधा करने वाले लोग बहुधा अपने को शिल्पसंघ या 'श्रेणी' में संगठित करते थे। इनमें से प्रत्येक का एक सभापति होता था जिसे 'प्रमुख' 'ज्येष्ठक' या 'श्रेष्ठिन' कहते थे। महाश्रेष्ठिन सर्वोपरि प्रधान और 'अनुश्रेष्ठिन' उपप्रधान भी होते थे। कभी–कभी विविध श्रेणियाँ या संघ अपनी रक्षा उन्नति या लाभ के लिए एक ही प्रधान के नीचे संगठित हो जाते थे। शिल्पी और व्यापारियों का संघ या श्रेणियाँ प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले (उम्मीदवार) भी रखती थी जिन्हें 'अन्तवासी कहते थे।' व्यापारियों के संघ के बीच उद्योग तथा व्यापार के विस्तृत साक्षों के हवाले ही कोशांबी का यह कथन सही है कि गंगा घाटी में नवीन वर्गो का अस्तित्व निर्विवाद रूप से है। कबीले के अन्तर्गत वैश्यों के नव वैदिक चरवाहा वर्ग के स्थान पर अब ऐसे कृषक आ गये थे, जिनके कबीले का कोई अस्तित्व नहीं था। धनाढ्य व्यापारी (श्रेणी तथा गृहपति) अपनी सम्पत्ति के कारण समाज में महत्वपूर्ण थे। संपत्ति का संचय व्यापार, उत्पादन अथवा कृषि के रूप में हो सकता था। यह स्वाभाविक ही था कि साथ में निर्धनता भी बढ़ती। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार धनउपार्जन न करने से निर्धनता बढ़ी। निर्धनता के कारण चोरी, झूठ, हिंसा, घृणा, क्रूरता आदि उत्पन्न होते ही इसके समाधान के लिए बुद्ध का उपदेश था कि किसानों को बीज तथा अन्य सुविधाएं व्यापारियों को धन तथा श्रमिकों को उपयुक्त पारिश्रमिक देना चाहिए।

वाणिज्य व्यापार और परिवहन : देशी और विदेशी व्यापार अत्यन्त प्रगति पर था वाणिज्य व्यापार के लिए भारत के अनेक भागों में व्यापार के प्रमुख केन्द्रों को जोड़ते हुए अनेक व्यापारिक मार्ग थे। एक लम्बा व्यापारिक मार्ग श्रावस्ती, नालन्दा, राजगृह जैसे औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों की तक्षशिला के समृद्धिशाली नगर से होता हुआ मध्य और पश्चिम एशिया से जोड़ता था। दूसरा मार्ग राजगृह से अवध में श्रावस्ती होता हुआ दक्षिण गोदावरी के तट तक जाता था। तीसरा जो अधिक दुर्गम था, राजस्थान की मरूभूमि से होता हुआ सिन्धु घाटी के निम्न प्रदेश में सौवीर बन्दरगाह की ओर दक्षिण के ऊपरी भाग में नर्मदा के मुहाने तक जाता था। इन पंथों की प्रशाखाएँ श्रावस्ती, उज्जैन, कौशाम्बी और वाराणसी के जो समृद्धिशाली व्यापारिक केन्द्र थे, जोड़ती थी। विनय–पिटक में पूर्व से पश्चिम को गंगा में जाने वाले प्रमुख जलमार्ग का वितरण है। यह मार्ग गंगा किनारे शहजवी पर समाप्त होकर फिर जमुना नदी में होता हुआ कौशाम्बी तक पहुंचता था। व्यापारिक वस्तुओं के लट्टू, पशुओं और बैलगाड़ियों में ले जाते थे। इनकी दीर्घ पंक्तियां किराये के सशस्त्र सैनिकों के संरक्षण में आगे बढ़ती थी। यात्री और व्यापारिकगण अपनी यात्रा अनेक मंजिलों मे पूर्ण करते थे। राजस्थान की मरूभूमि को पार करते हुए सार्थवाह (कारवां) शीतल रात्रि के समय नक्षत्रों की गति जानने वाले पथ प्रदर्शकों का अनुसरण करते थे। इन राजमार्गो पर डकैतियां अधिक होती थी विशेषकर निर्जन मार्ग पर व्यापारिक वस्तुएँ लेकर चलना भयपूर्ण था।

व्यापारिक मार्ग : भारत से बाहर के देशों के साथ स्थानीय और सामुद्रिक दोनों मार्गो से व्यापार होता था। भारत का विदेशी व्यापार एशिया के बड़े स्थलमार्ग से होता था जो गान्धार देश के तक्षशिला नगर और मध्य एशिया से होता हुआ भू मध्यसागर के तट तक जाता था और पाश्चात्य देशों के साथ भारतीय व्यापार फारस की खाड़ी और लाल समुद्र के जलमार्ग से होता था। बौद्धिक धार्मिक ग्रन्थों में इस बात का प्रमाण है कि भारत का समुद्री व्यापार सिंहतटीय (लंका), बर्मा, सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप से बंगाल की खाड़ी के जलमार्ग से होता था। भारतीय इन देशों की समुद्री यात्राएं और व्यापार के हेतु देशाटन करते थे। भृगुकच्छ (आधुनिक भड़ौच), सूरपरक (सोपारा बम्बई के उत्तर में) ताम्रलिपि (पश्चिम बंगाल में तामलुक) प्रसिद्ध बन्दरगाह था। जमुना तट पर कौशाम्बी, सरयू पर अयोध्या अन्य नदी पर श्रावास्ती, गोदावरी पर पोताना, गंगा पर काशी, चम्पा और श्राड पर पाटलिपुत्र और सिन्ध पर पट्टल नदी तट के बन्दरगाहों में से विशेष उल्लेखनीय है।

आयात–निर्यात और मुद्रा : निर्यात की प्रमुख वस्तुएं रेशम, मलमल, किमरख्वाब, चाकू–कैंची, कसीडे कढे हुए वस्त्र, कम्बल, सुवासित द्रव, औषधियां, हाथी दांत और हाथीदांत का सामान, सोने चाँदी के रत्नजटित आभूषण आदि थे। इनके व्यवसाय से सौदागर अनन्त धन अर्जित करते थे। यद्यपि वस्तु–विनमय की प्रथा सर्वथा विलुप्त नहीं हुई थी, परन्तु सिक्कों का प्रचलन क्रय–विक्रय के माध्यम के लिए ही चला था। मूल्य की सर्वमान्य इकाई तांबे का सिक्का था जिसको 'कर्सपण' कहते थे। इसका वजन 146 ग्रेन से कुछ अधिक होता था। चाँदी का कर्सपण 58 ग्रेन से थोड़ा सा कुछ अधिक होता था। इसके अतिरिक्त 'निक्ख' और 'सुवरण' (सुवर्ण) नाम के सोने के सिक्के भी होते थे। इन सिक्कों का वजन और मूल्य ऐसा प्रतीत होता है, विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न था। परन्तु बहुत विशाल नगरों के सिवाय सिक्का का प्रयोग बहुत अधिक नहीं था। व्यापारी अथवा महत्वशाली व्यवसायी वर्ग श्रेणियाँ इन सिक्कों पर वजन आदि नियमित करने के लिए अपने चिन्ह छाप देती थी।

सन्दर्भ–

1. रामशरण शर्मा
2. पाणिनी, अष्टाध्यायी
3. ओम प्रकाश प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास चतुर्थ संस्करण, पृ0 21
4. डी0 एन0 झा– एसेन्ट इण्डिया एण्ड इन्ट्रोक्टरी आउट लाइन नई दिल्ली 1977, पृ0 79
5. बी0एन0 लुनिया, भारतीय संस्कृति पृ0 62
6. द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, संशोधित एवं परिवर्धित नवीन संस्करण, पृ0 140
7. विनय पिटक

*शोध छात्र, इतिहास विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

स्तुत्यपूर्ण कार्य किया है–

"अगुनहिं सगुनहि नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुधिवेदा।
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।।"

तुलसीदास ने निर्गुण–सगुण को ब्रह्म के दो रूप बताया है। उन्होंने निर्गुण सगुण की समता एवं एकरूपता का आधार बताया है कि ब्रह्म (निर्गुण) भक्तों के प्रेम के वश होकर सगुण रूप धारण कर लेता है– "अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।"

रामचरितमानस समाज के लिए प्रेरणाप्रद महाकाव्य है। मानस के नायक मर्यादा पुरुषोतम श्रीराम हैं। राम जैसे आदर्श महापुरुष की आज इस भ्रष्ट समाज को अत्यन्त आवश्यकता है। राम एक आदर्श राजा हैं। वे अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए ही वन–वन भटकते फिरते हैं। यही नहीं वे पृथ्वी को असुरविहीन करने की भीष्म प्रतिज्ञा करते हैं– "निसिचर हीन करऊँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।।/सकल मुनिन्ह के आश्रमहिं, जाइ जाइ सुख दीन्ह।"[6] जहाँ राम एक आदर्श राजा हैं, वहीं वे एक आदर्श भाई हैं। वे ऐसे भाई हैं कि उनके भाई उनसे अलग नहीं रह सकते हैं। जब वे वन जाते हैं, तो लक्ष्मण उनसे अलग नहीं रहना चाहते हैं। वे अपनी माँ (कैकेयी) से कटु वचनों का प्रयोग करते हैं। भरत का भ्रात प्रेम भी अनंत है। वे नंगे पैर चित्रकूट पहुँचकर अपने भाई श्रीराम को वापिस लाने की कोशिश करते हैं। भरत राम की पादुकाओं को ही सिंहासन पर आरूढ़ करते हैं। भरत अयोध्या के राज्य को राम की धरोहर के रूप में स्वीकार करते हैं। कितना प्रगाढ़ प्रेम है भाई–भाइयों में?अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। आज धन–सम्पत्ति के लिये भाई–भाई का दुश्मन बना हुआ है। इससे समाज में विद्रूपता आ गयी है। भाई–भाई को नीचा दिखाने की कोशिश में है। आज हमारा समाज काम–भावना की अग्नि में जल रहा है। इस अग्नि ने हर रिश्ते को दागदार किया है। रामचरितमानस में सीता की खोज में उनके कानों के कुछ आभूषण प्राप्त होते है तो राम लक्ष्मण से पूछते हैं कि 'क्या ये आभूषण सीता के हैं?' तो लक्ष्मण के शब्द कितने प्रासंगिक हैं आप खुद अंदाज लगा लीजिए–'भईया मैंने आज तक भाभी के चरणों को देखा है। फिर मैं कैसे बता सकता हूं कि ये आभूषण सीता माता के हैं या किसी और के?'

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में माता पिता एवं पुत्र का आदर्श स्थापित किया है। दशरथ एक आदर्श पिता हैं, एवं माताएँ भी आदर्श हैं। राम अपने माता–पिता की आँख के तारे हैं। राम अपने सुकृत्यों से सभी को प्रसन्न रखते हैं। राम कैकेयी माँ को सबसे अधिक प्रेम करते हैं। वनवास से लौटने के बाद वे सर्वप्रथम कैकेयी से ही मिलते हैं– "प्रभु जानी कैकेयी लजानी, प्रथम तासु गृह गए भवानी।।[7] जहां आज पिता–पुत्र में दूरियां बनती चली जा रही हों, जहां न तो पिता अपने पुत्र की भावनाओं की कद्र कर रहा हो तथा पुत्र भी जहां पिता को मात्र नाम के लिए इस्तेमाल कर रहा हो वहीं दशरथ–राम के प्रेम को देखा जा सकता है। जहां एक ओर राम अपने पिता के वचन के लिए अपना सब वैभव त्याग कर वनों में भटकते फिरते हैं वहीं दशरथ अपने पुत्र के वियोग में अपने प्राण ही त्याग देते हैं–

"भयउ बिकल बरनत इतिहासा, राम रहित धिग जीवन आसा।/
हा रघुनन्दन प्रानपिरीते, तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते।।[8]

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने इस महाकाव्य में माँ–बाप और बेटा का कितना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह प्रसंशनिय है। आज समाज में नौजवान अपने माता–पिता का सम्मान नहीं करते हैं। यदि आज के युवक 'मानस' का अध्ययन–मनन करें तो परिवार में सौहार्द एवं प्रेम बढ़ सकता है। इस संदर्भ में 'मानस' का उत्तर–आधुनिक युग में विशेष महत्त्व है।

आज समाज में निम्न–वर्ग (शोषित–वर्ग), उच्च–वर्ग (शोषक–वर्ग) की चक्की में पिसा जा रहा है। समाज में अनाचार व अत्याचार अपनी चरम सीमा पर है। परन्तु तुलसी के राम ने कभी शोषक का साथ नहीं अपितु यथासम्भव दंड दिया। सुग्रीव पर उसके भाई बालि द्वारा किये जा रहे अत्याचार से हनुमान राम को अगत कराते हैं–

"विनम्र हो हनुमान ने कहा,
सुग्रीव की पत्नी को भी
छीन लिया और देश से निकाला
सुग्रीव को भी बालि न।।"[9]

यह सुन कर राम इसे बिलकुल भी सहन नहीं करते, बल्कि वे उस अत्याचारी को मौत की सजा भी देते हैं। आज हमारा समाज उस सुग्रीव की तरह ही त्राही–त्राही कर रहा है, जो अपने भाई (बालि) के अत्याचारों व आतंक से भयभीत होकर ऋष्यमूक पर्वत पर अपने मन्त्रियों के साथ निवास करता था। सदैव प्रार्थना करता था कि ईश्वर इस कष्ट से उसे मुक्ति दें–

"नाथ सैल पर कपिपति रहई, सो सुग्रीव दास तब अहई।
तेहि सननाथ मयत्री कीजे, दीन जानि तेहि अभय करीजे।।"[10]

मात्र राम ही नहीं उनकी सभा के मंत्री से लेकर उनके सेवक तक उन्हीं के आदर्शों पर चलते हैं। सेवकों में हनुमान दृष्टव्य हैं जो स्वयं राम के आदर्शानुगामी हैं। तुलसीदास उनकी प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं– "मंगलमूरति मारूत नन्दन सकल अमंगल मूल निकन्दन।/पवनतनय संतन हितकारी, हृदय विराजत अवधबिहारी।।" मारूति नन्दन समाज में व्याप्त अत्याचार व आतंक को समाप्त करने में राम का पूर्ण सहयोग करते हैं। आज बालि एवं रावण–जैसी शक्तियाँ देश की निपट–भोली जनता का शोषण कर रही हैं। इन आतातायी शक्तियों के उत्पीड़न से त्राण पाने के लिए नवयुवकों को 'मानस' का अध्ययन मनन आवश्यक है ताकि वे हनुमानादि के पुनीत चरित्र से प्रेरणा लेकर स्वस्थ समाज की स्थापना में अपना सहयोग दे सकें। रामचरितामानस हिन्दी–साहित्य का ऐसा महाकाव्य है जिससे देश के युवक प्रेरणा ले सकते हैं और स्वस्थ समाज की स्थापना कर सकते हैं। 'मानस' आदर्शवाद का अद्वितीय महाकाव्य है। 'मानस' के अध्ययन व मनन से भाई–भाई में प्रेम की भावना को प्रगाढ़ बनाया जा सकता है, समाज से अत्याचार, भ्रष्टाचार, आतंक व अनाचार को दूर किया जा सकता है। 'मानस' को आदर्शवाद से भारतीय जन–जीवन खुशहाल बन सकता है। परिवार के मतभेद को दूर किया जा सकता है। महात्मा गाँधी एवं अन्य आधुनिक कवियों ने आदर्श राज्य को ही रामराज्य के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय जन–जीवन के चरित्र में 'रामचरितमानस' की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। 'रामचरितमानस' ऐसा महाकाव्य है जिसका सृजन बेशक भक्तिकाल में हुआ तो लेकिन वह आज भी हमारे समाज में महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक है। आधुनिक युग में 'मानस' को कलिकाल की 'गीता' कहा जाय तो समीचीन ही होगा।

रामचरितमानस का प्रत्येक अध्याय प्रासंगिक है। आज हमारी देश की राजनीति का हाल–बेहाल है। हमारे द्वारा चुने राजनेता ही इस देश को बेचने में लगे हैं। रोज नये–नये घोटालों का बोल–बाला रहता है। एक घोटाला तभी दबता है जब दूसरा

स्तुत्यपूर्ण कार्य किया है–

"अगुनहिं सगुनहि नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि पुरान बुधिवेदा।
अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।।"

तुलसीदास ने निर्गुण–सगुण को ब्रह्म के दो रूप बताया है। उन्होंने निर्गुण सगुण की समता एवं एकरूपता का आधार बताया है कि ब्रह्म (निर्गुण) भक्तों के प्रेम के वश होकर सगुण रूप धारण कर लेता है– "अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई।"

रामचरितमानस समाज के लिए प्रेरणाप्रद महाकाव्य है। मानस के नायक मर्यादा पुरुषोतम श्रीराम हैं। राम जैसे आदर्श महापुरुष की आज इस भ्रष्ट समाज को अत्यन्त आवश्यकता है। राम एक आदर्श राजा हैं। वे अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए ही वन–वन भटकते फिरते हैं। यही नहीं वे पृथ्वी को असुरविहीन करने की भीष्म प्रतिज्ञा करते हैं– "निसिचर हीन करऊँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।।/सकल मुनिन्ह के आश्रमहिं, जाइ जाइ सुख दीन्ह।"[6] जहाँ राम एक आदर्श राजा हैं, वहीं वे एक आदर्श भाई हैं। वे ऐसे भाई हैं कि उनके भाई उनसे अलग नहीं रह सकते हैं। जब वे वन जाते हैं, तो लक्ष्मण उनसे अलग नहीं रहना चाहते हैं। वे अपनी माँ (कैकेयी) से कटु वचनों का प्रयोग करते हैं। भरत का भ्रात प्रेम भी अनंत है। वे नंगे पैर चित्रकूट पहुँचकर अपने भाई श्रीराम को वापिस लाने की कोशिश करते हैं। भरत राम की पादुकाओं को ही सिंहासन पर आरूढ़ करते हैं। भरत अयोध्या के राज्य को राम की धरोहर के रूप में स्वीकार करते हैं। कितना प्रगाढ़ प्रेम है भाई–भाइयों में?अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। आज धन–सम्पत्ति के लिये भाई–भाई का दुश्मन बना हुआ है। इससे समाज में विद्रूपता आ गयी है। भाई–भाई को नीचा दिखाने की कोशिश में है। आज हमारा समाज काम–भावना की अग्नि में जल रहा है। इस अग्नि ने हर रिश्ते को दागदार किया है। रामचरितमानस में सीता की खोज में उनके कानों के कुछ आभूषण प्राप्त होते है तो राम लक्ष्मण से पूछते हैं कि 'क्या ये आभूषण सीता के हैं?' तो लक्ष्मण के शब्द कितने प्रासंगिक हैं आप खुद अंदाज लगा लीजिए–'भईया मैंने आज तक भाभी के चरणों को देखा है। फिर मैं कैसे बता सकता हूं कि ये आभूषण सीता माता के हैं या किसी और के?'

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरितमानस में माता पिता एवं पुत्र का आदर्श स्थापित किया है। दशरथ एक आदर्श पिता हैं, एवं माताएँ भी आदर्श हैं। राम अपने माता–पिता की आँख के तारे हैं। राम अपने सुकृत्यों से सभी को प्रसन्न रखते हैं। राम कैकेयी माँ को सबसे अधिक प्रेम करते हैं। वनवास से लौटने के बाद वे सर्वप्रथम कैकेयी से ही मिलते हैं– "प्रभु जानी कैकेयी लजानी, प्रथम तासु गृह गए भवानी।।[7] जहां आज पिता–पुत्र में दूरियां बनती चली जा रही हों, जहां न तो पिता अपने पुत्र की भावनाओं की कद्र कर रहा हो तथा पुत्र भी जहां पिता को मात्र नाम के लिए इस्तेमाल कर रहा हो वहीं दशरथ–राम के प्रेम को देखा जा सकता है। जहां एक ओर राम अपने पिता के वचन के लिए अपना सब वैभव त्याग कर वनों में भटकते फिरते हैं वहीं दशरथ अपने पुत्र के वियोग में अपने प्राण ही त्याग देते हैं–

"भयउ बिकल बरनत इतिहासा, राम रहित धिग जीवन आसा।/
हा रघुनन्दन प्रानपिरीते, तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते।।[8]

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने इस महाकाव्य में माँ–बाप और बेटा का कितना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह प्रसंशनिय है। आज समाज में नौजवान अपने माता–पिता का सम्मान नहीं करते हैं। यदि आज के युवक 'मानस' का अध्ययन–मनन करें तो परिवार में सौहार्द एवं प्रेम बढ़ सकता है। इस संदर्भ में 'मानस' का उत्तर–आधुनिक युग में विशेष महत्त्व है।

आज समाज में निम्न–वर्ग (शोषित–वर्ग), उच्च–वर्ग (शोषक–वर्ग) की चक्की में पिसा जा रहा है। समाज में अनाचार व अत्याचार अपनी चरम सीमा पर है। परन्तु तुलसी के राम ने कभी शोषक का साथ नहीं अपितु यथासम्भव दंड दिया। सुग्रीव पर उसके भाई बालि द्वारा किये जा रहे अत्याचार से हनुमान राम को अगत कराते हैं–

"विनम्र हो हनुमान ने कहा,
सुग्रीव की पत्नी को भी
छीन लिया और देश से निकाला
सुग्रीव को भी बालि न।।"[9]

यह सुन कर राम इसे बिलकुल भी सहन नहीं करते, बल्कि वे उस अत्याचारी को मौत की सजा भी देते हैं। आज हमारा समाज उस सुग्रीव की तरह ही त्राही–त्राही कर रहा है, जो अपने भाई (बालि) के अत्याचारों व आतंक से भयभीत होकर ऋष्यमूक पर्वत पर अपने मन्त्रियों के साथ निवास करता था। सदैव प्रार्थना करता था कि ईश्वर इस कष्ट से उसे मुक्ति दें–

"नाथ सैल पर कपिपति रहई, सो सुग्रीव दास तब अहई।
तेहि सननाथ मयत्री कीजे, दीन जानि तेहि अभय करीजे।।"[10]

मात्र राम ही नहीं उनकी सभा के मंत्री से लेकर उनके सेवक तक उन्हीं के आदर्शों पर चलते हैं। सेवकों में हनुमान दृष्टव्य हैं जो स्वयं राम के आदर्शानुगामी हैं। तुलसीदास उनकी प्रशंसा इन शब्दों में करते हैं– "मंगलमूरति मारूत नन्दन सकल अमंगल मूल निकन्दन।/पवनतनय संतन हितकारी, हृदय विराजत अवधबिहारी।।[11] मारूति नन्दन समाज में व्याप्त अत्याचार व आतंक को समाप्त करने में राम का पूर्ण सहयोग करते हैं। आज बालि एवं रावण–जैसी शक्तियाँ देश की निपट–भोली जनता का शोषण कर रही हैं। इन आतातायी शक्तियों के उत्पीड़न से त्राण पाने के लिए नवयुवकों को 'मानस' का अध्ययन मनन आवश्यक है ताकि वे हनुमानादि के पुनीत चरित्र से प्रेरणा लेकर स्वस्थ समाज की स्थापना में अपना सहयोग दे सकें। रामचरितामानस हिन्दी–साहित्य का ऐसा महाकाव्य है जिससे देश के युवक प्रेरणा ले सकते हैं और स्वस्थ समाज की स्थापना कर सकते हैं। 'मानस' आदर्शवाद का अद्वितीय महाकाव्य है। 'मानस' के अध्ययन व मनन से भाई–भाई में प्रेम की भावना को प्रगाढ़ बनाया जा सकता है, समाज से अत्याचार, भ्रष्टाचार, आतंक व अनाचार को दूर किया जा सकता है। 'मानस' को आदर्शवाद से भारतीय जन–जीवन खुशहाल बन सकता है। परिवार के मतभेद को दूर किया जा सकता है। महात्मा गाँधी एवं अन्य आधुनिक कवियों ने आदर्श राज्य को ही रामराज्य के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय जन–जीवन के चरित्र में 'रामचरितमानस' की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। 'रामचरितमानस' ऐसा महाकाव्य है जिसका सृजन बेशक भक्तिकाल में हुआ तो लेकिन वह आज भी हमारे समाज में महत्त्वपूर्ण एवं प्रासंगिक है। आधुनिक युग में 'मानस' को कलिकाल की 'गीता' कहा जाय तो समीचीन ही होगा।

रामचरितमानस का प्रत्येक अध्याय प्रासंगिक है। आज हमारी देश की राजनीति का हाल–बेहाल है। हमारे द्वारा चुने राजनेता ही इस देश को बेचने में लगे हैं। रोज नये–नये घोटालों का बोल–बाला रहता है। एक घोटाला तभी दबता है जब दूसरा

प्रकाश में आ जाता है। किसी को देश की निरीह जनता पर तरस नहीं आता है। हर कोई अपना पेट भरना चाहता है। ऐसे में राम के चरित्र को देखना लाजमी हो जाता है कि कैसे एक आदर्श राज्य की स्थापना के लिए वे सीता जैसी पत्नी का भी परित्याग करने से नहीं चूकते, कारण मात्र जनता द्वारा उनके चरित्र पर उंगली उठाया जाना। जहां हमारा ये आधुनिक समाज, जो पैंट–शर्ट पहन कर खुद को मॉर्डन कह रहा है, दलितों को आज भी प्रताड़ित करने नहीं चूकता वहीं पुरातन काल का राम दलित 'शबरी' के जूठे बेर खाने से भी नहीं चूकता। यथार्थ बड़ा कड़वा होता है और वो ये यथार्थ है कि हमारा समाज आज हर तरह से विद्रुप हो गया है। इसका घिनौना चेहरा देखने मात्र से ही डर लगता है। 'मानस' में एक रावण था, जो अत्याचारों का रिकार्ड बनाना चाहता था और शायद गिनीज बुक में अपना नाम भी दर्ज करा लेता परन्तु उससे पहले ही राम ने उसके शोषणों से इस समाज को तथा स्वयं रावण को मुक्ति दिला दी। परन्तु आज तो यह पूरा समाज ही रावण बना हुआ है। बहुत समय पहले किसी घर से एक गाने की आवाज़ सुनी थी, जो आज सच में उद्धृत करने का मन करता है–"अब तो घर–घर में रावण बैठा, इतने राम कहां से लाउं।" इतने के बाद शायद अब गोस्वामी तुलसीदास कृत 'श्रीरामचरितमानस' को अप्रासंगिक कहना, कुतर्क करना होगा।

सन्दर्भ–

1. महावीर दाधीच, आधुनिकता और भारतीय परम्परा, शब्द लेखा प्रकाशन, डागा बिल्डिंग, बीकानेर, पृ. 104
2. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, 1/4, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2061 विक्रमी
3. वही, बालकाण्ड, 49/1
4. वही, 46/1
5. वही, अरण्यकाण्ड, 9 वां दोहा
6. वही, उत्तरकाण्ड, 9/1
7. वही, अयोध्याकाण्ड, 154/4
8. शांति सहाय नलिनी, रामकथा, चैतन्य प्रकाशन, 17 अशोक मार्ग, लखनऊ, सं. 2005, पृ. 70
9. गोस्वामी, तुलसीदास, रामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, 3/1–2
10. गोस्वामी, तुलसीदास, विनय पत्रिका–सम्पा. डॉ. शम्भू शुक्ल, स्टूडेण्ट स्टोर, रामपुर बाग, बरेली, सं. 1990, पृ. 129

*प्राध्यापक–हिन्दी
श्री खुशीराम महाविद्यालय
खैर, अलीगढ़,उ.प्र., 202138

संत कवियों की काव्य चेतना

सुयश त्रिपाठी*

मध्यकाल में नवीन विदेशी जाति के आगमन के फलस्वरूप भारत में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों ने भारतीय जनता के जीवन के विविध पक्षों को प्रभावित किया। इन्हीं परिवर्तनों के बीच वैचारिक स्तर पर भक्ति आंदोलन का जन्म होता है। इस आंदोलन में कई धार्मिक, वैचारिक एवं सांस्कृतिक स्तर तथा उपस्तर थे। इस आंदोलन की एक महत्वपूर्ण कड़ी संत कवि थे। इन्होंने अपनी बानियों के द्वारा भक्ति आंदोलन में बहुमूल्य योगदान दिया। इनकी बानियों के मूल में 'मानुष सत्य' की स्थापना का भाव था। फलतः इनकी काव्य चेतना एक ठोस वैचारिक धरातल पर खड़ी होकर समकालीन समाज व संस्कृति को गहरे स्तर तक प्रभावित करती है।

मध्यकाल में नवीन धर्म के आगमन से समाज में भय एवं जुगुप्सा का भाव था। इस समय उत्तर भारत भी धार्मिक उथल–पुथल के दौर से गुजर रहा था। विभिन्न मत–मतान्तर आम जनता को शोषित एवं भ्रमित कर रहे थे। इनके बीच संत कवियों ने निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप सामने रखकर आम जनता को राह दिखाई। इस ब्रह्म में सभी दार्शनिक संप्रदायों का मिलन भी था और भक्ति का भाव भी। इसमें हिन्दूओं के 'ब्रह्म' की संकल्पना भी थी और मुस्लिमों के 'एकेश्वरवाद' का भाव भी। इस 'ब्रह्म' में शंकर के समान शुष्क नीरसता नहीं थी। यह ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अनादि, अनंत, त्रिगुणातीत था।[1] दादू ने इस ब्रह्म की विचित्रता का वर्णन करते हुये कहा है कि–

"बिन श्रवणहु सब कुछ सुनै, बिन नैनहु सब देखै।
बिन रसना मुख सब कुछ बोलै, यह दादू अचरज पेखै।।[2]

यह ब्रह्म अपने भक्त हेतु अवतार ग्रहण नहीं करता लेकिन संत कवि भावना के तीव्र उद्वेग में इसे सगुण साकार रूप में अभिव्यक्त करते हैं। इस ब्रह्म के प्रति यह भावना एवं जिज्ञासा रहस्यात्मकता, में परिणित हो जाती है। संत इस ब्रह्म के प्रति मिलन की भावना लेकर साधना करता है। वह सूफी मत से भिन्न स्वयं को स्त्री मानता है और ब्रह्म को पुरूष। प्रारम्भिक चरण में वह साधना के पथ पर चलकर उस ब्रह्म तत्व का साक्षात्कार करना चाहता है–

'झीनी–झीनी बीनी चदरिया'।

परन्तु धीरे–धीरे उसे इस मार्ग की नीरसता एवं निःस्सारता का भान होने लगता है। तब वह इस मार्ग को छोड़कर भक्ति भाव को अपना लेता है। यहीं से उसके ब्रह्म की लोक व्याप्ति को मानना उचित होगा क्योंकि आम जनता को बांधने वाली एकमात्र शक्ति धर्म थी। आम जनता के लिए भक्ति के बिना धर्म व्यर्थ था। इस भक्ति भावना को अपनाने पर संत कवि एक आम विरहिणी स्त्री की भांति उस 'पिय' के दर्शन, संगम एवं मिलन के लिए व्याकुल हो जाता है। वह कहता है–

'राम भगति अनियाले तीर जेहि लागै सो जानैं पीर।।[3]

'अनियाले तीर' से घायल हृदय पिया मिलन की राह देखता है–

'मारग जोवै विरहिनी, चितवै पिय की वोर।
सूंदर जियरे जक नहीं, कल नहीं परत निस भोर।।[4]

उस कंत की प्रतीक्षा में क्षण भर का समय भी वर्षों के समान प्रतीत होता हैं। विरहिनी आत्मा हर समय उसकी याद में तड़पती रहती है। उसे यह विछोह मंजूर नही रहता है–

'भूख–पियास न नीदंड़ी, बिरहनि अति बेहाल।
सुंदर पियारें पीव बिन क्यों करि निकसै साल।।[5]

अंततः उस कंत से मिलन की घड़ी भी आ जाती है। आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाता है। यह क्षण अद्‌भुत है–

पंजरि प्रेम प्रकासिया जागी जोति अनंत।
संसै छूटा सुख भया, मिला पियारा कंत।।[6]

पिय मिलन की यह आकांक्षा उसे बड़े प्रयत्नों के बाद मिली है। अब वह उस कंत को जाने देना नहीं चाहती। वह उसे हर हाल में अपनाना चाहती है। वह उससे इस प्रकार मिल जाना चाहती है, ताकि फिर कभी उसका वियोग अपने कंत से न हो।–

हेरत–हेरत हे सखी कबीरा गया हिराई।
बूंद समानी समुद्र में सो कत हेरि जाय।।[7]

ब्रह्म से यह मिलन अद्‌भुत है क्योंकि संत कवि का 'ब्रह्म वर्णन' यहां एक नये स्वरूप में सामने आता है। उसके वर्णन में 'नेति–नेति' का भाव है। इस ब्रह्म से मिलन के पश्चात् उसे कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसकी प्रतीति उसे गुरू कराता है। अतः वह अपनी बानियों में गुरू को बहुत महत्व देता है–

सतगुरू की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार।।[8]

गुरू उसे सत्य का साक्षात्कार कराता है। समस्त विषय वासनाओं से बचाकर ब्रह्म प्राप्ति के साधन बताता है। उसे 'पशुता' से मुक्त कर 'दुर्लभ तत्व' के दर्शन योग्य बनाता है। रज्जब कहते हैं–

जीव रचा जगदीश ने, बांध्यं काया मांहि।
जन रज्जब मुक्ता किया, तौ गुरु सम कोई नांहि।।[9]

यह गुरु उसे संसार की असारता बताता है। संत कवियों की बानी में संसार 'असत्य रुप' में वर्णित है। वे संसार को 'सेमल के फूल' के समान मानते हैं। इनके जगत विषयक अवधारणा पर सांख्य, शैव, तंत्र, अद्वैत वेदान्त के साथ इस्लाम की मान्यताओं का प्रभाव भी देखा जा सकता है।[10]

मृतिका के घट भये अपार, जल तरंग नहिं भिन्न विचार।
सुन्न कहन सुनन को दोई, पाला गल पानी ही होई ।।[11]

इस जगत में कोई संत पुनः आना नही चाहता है। मुक्ति की कामना लेकर साधना करने वाला संत जानता है कि मुक्ति ज्ञान से ही संभव है। वह ज्ञान की तलवार लेकर जगत के समस्त बंधनों को काट देता है–

तजि संसार उलट नहीं आवै, जो पग धरै सो आगै हो।
ग्यान खड्ग लै सनमुष सूझै, फिरि पीछै नहिं भागौ हो।।[12]

जब जीव इस जगत में जन्म लेता है। तब माया मोह का बंधन उसे घेर लेता है। माया जीव और ब्रह्म के बीच भेद पैदा कराती है। इसके दो रुप हैं– विद्या माया और अविद्या माया। यह अविद्या माया अत्यन्त ठगिनी है। यह अपने हाथ में सत, तम रज तीनों को धारण करती है। शिव के घर में भवानी है, विष्णु के घर में कमला और ब्रह्म के घर में ब्रह्माणी।[13] इसकी कथा अकथ है। इसे ज्ञान द्वारा जीता जा सकता है–

दादू साधू राखै राम कूं संसारी माया।

संसारी पालै गहै मूल साधू पाया।।[14]
साधक को यह माया नहीं व्यापति है। उसके पास 'राम' नाम का अस्त्र है। इस अस्त्र को सामान्य गृहस्थ भी अपना सकता है। इसके सहारे माया के बंधन को काट कर जन्म जन्मांतर के लिए मुक्ति पा सकता है–
सुंदर माया मोह तजि, भजिये आतम राम।
ये संगी दिन चारिकै, सुत धारा धन धाम।।[15]

संत कवियों की काव्य चेतना आकाशीय नहीं है। वे सिर्फ आध्यात्म के सहारे ब्रह्म विषयक चिंतन में नहीं डूबे रहते बल्कि उनके काव्य का एक लोक पक्ष भी है; वे लोक के धरातल पर उतरकर लोक चेतना को आत्मसात कर स्वानुभूत सत्य को लोक वाणी में व्यक्त कर लोक मुक्ति की कामना करते हैं। इस वक्त इनकी बानी मानवतावादी हो जाती है। वे मानव को केन्द्र में रखकर समस्त शास्त्र, मत मतांतर एवं विश्वास को परखते हैं। इसमें 'मानुष सत्य' को न पाकर इसे फटकारते हैं। जॉति–पॉति, वर्णव्यवस्था, धार्मिक पाखंड, बाह्याडम्बरो का विरोध करते हैं। जाति बंधन का निषेध करते हुये वे कहते हैं कि–
आपन कर्म न मेटो जाई।
कर्म का लिषा मिटै धो कैसे जुग कोटि सिराई।।[16]

समकालीन समाज को धर्म संचालित करता था। धर्म में भी पाखण्ड एवं कर्मकांड को महत्व दिया जाता था। धर्म सत्मार्ग के स्थान पर संघर्ष तत्व को बढ़ावा देने में लगा था। संत कवि इन तत्वों को फटकारते हैं–
पेटै वेद न काहू पढ़ाया, सुनत करोन तुरक नहिं आया। [17]

वे मानव मुक्ति की कामना करते हैं। उनका मानना है कि जो धर्म मुक्ति नहीं दे सकता वह व्यर्थ हैं। वे मानव मूल्यों के पक्षधर हैं। मानव मूल्यों की स्थापना के लिए संघर्ष करते हैं। इसे स्थापित करने का प्रयास करते हैं–
दादू दया जिनके दिल नाहीं, बहुरि कहावै साधु।
जे मुख उनका देखिए, तौ लागै बहु अपराधु।।[18]

इनकी बानियों के आधार पर कहा जा सकता है कि संतों ने व्यक्ति, समाज और आध्यात्म को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया हैं। उन्होंने मूर्तिपूजा, बाह्याडम्बर, अंधविश्वास आदि का खंडन कर मानवतावादी चेतना को प्रस्तुत किया है।[19]

कला की चरम परिणति का नाम अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना कला की अस्मिता है। भक्तिकालीन निर्गुण संत कवि कोई कलाबाज या चमत्कारी कवि नहीं थे। प्रदर्शन न तो उन्हें प्रिय था और न ही वे उसे समाज के लिए मंगलकारी मानते थे। इसीलिए संतों ने अपनी सहज सरल बानी में अपने अंत्स के उद्गारों को बिना बनावट के कह दिया है। तथापि इस सहजता की स्थिति में भी एक लय है और एक गहन प्रवाहमयता भी। वे संप्रेषण पर बल देते हैं। संप्रेषण इसलिए क्योंकि संत अपने उपदेश को जनसामान्य तक पहुंचाना चाहते थे। इस कामना से उनकी बानियों में अनायास ही भाषा के अनेक उपादान आ गये हैं।

जैसे व्यक्ति– व्यक्ति से समाज स्वरुपित होता है। वैसे ही शब्द–शब्द से भाषा भी स्वरित होती है। सांस्कृतिक चेतना के अभाव में भाषिक संरचना असंभव है क्योंकि संस्कृति समाज सापेक्ष होती है। या यों कहें कि समाज संस्कृति से अनुप्राणित होता है और भाषा संस्कृति की विवृत्ति का उपादान है।[20] संतों की काव्य भाषा की शब्दावली संसृति का अध्ययन भी इस रुप में किया जा सकता है। उनकी शब्दावली में पौराणिक, प्राकृतिक, सामाजिक संबंध, आर्थिक, राजनैतिक शब्दों का यथानुकूल प्रयोग किया गया है।

संतो ने अपनी वाणी को प्रबल बनाने के लिए पौराणिक शब्दों का प्रयोग किया है। धनी धरमदास ने युधिष्ठिर, ब्रह्मा, विष्णु, नारद, शंकर आदि का; कबीर ने जगदीश, माधव, विठुला, ध्रुव सनकादिक आदि का; रज्जब ने गोविन्द, गोपाल,प्रजापति, गोरख आदि का प्रयोग किया है।[21]

संतो की शब्दावली में प्राकृतिक शब्द; जैसे– चीता, गज; वनस्पति जगत के शब्द–पीपल, गुलर; पर्वत का वर्णन–मलय पर्वत, स्वर्ण पर्वत आदि उपस्थित हैं। उन्होंने आर्थिक शब्द– कूप, धरणी, मूसल, आदि का खुलकर प्रयोग किया है। इससे उनकी भाषा सशक्त एवं लोकग्राही बनती है।

संतो की प्रतीक योजना अनूठी है। प्रतीकों के माध्यम से साधना के गूढ़ शब्द आम जनता के लिए ग्राह्य हो जाते हैं। सांकेतिक प्रतीक साधुओं के लिए भी है और गृहस्थों के लिए भी–
येक तत ता ऊपरि इतनी तीनी लोक ब्रह्ममांडा।
धरती गगण पवण अरू पाणी, सपत दीप नव खंडा।।
यह सूर चौरासी लाख दिखी अरू रैणिं रचले सपत संमदा।
सवा लाख में गिर पवत अठारह भार तीरथ बुत ता ऊपरि मंडा।।
चौदह लोक रहें सब रचणां दादू दास तास धरि बंदा।।[22]

संतो ने पारिभाषिक प्रतीकों का प्रयोग अपनी हठयोग साधना की व्यंजना के लिए किया है। इन प्रतीकों में इडा, पिंगला, सुषम्ना आदि का उल्लेख किया गया है। 'गगन गुफा' का प्रयोग ब्रह्मरंध्र के लिए करते हुये धनी धरम दास कहते हैं कि–
गगन गुफा के मारग को तुम धीरज से चढ़ना।
केवड़ि द्वादस है लागे,
वैकुंठपुरी मे दसम द्वार है तहाँ जोति जागे।।[23]

संतो ने संख्या मूलक प्रतीकों का प्रयोग अपने हृदयगत उद्गारों को प्रगट करने के लिए किया है। संत साहित्य मे 'एक' का प्रयोग माया, ब्रह्म, मन आदि के लिए किया गया है। संत कबीर ने 'एक नारि' को माया के लिए 'एक पुरूष' को ब्रह्म के लिए प्रयोग किया है।[24]

संत बानियों में रूपक प्रतीक केवल रूपक अलंकार तक सीमित नहीं है। बल्कि काफी विस्तार लिये हुये है। संतों ने दर्शन की जटिलता को व्यक्त करने के लिए रूपकों की रचना की है–
काहें रे नलिनी तू कुम्हलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी।।
जल में उतपत्ति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास।।

संत कवियों की बानियों में अप्रस्तुत विधान के भी दर्शन होते हैं। अप्रस्तुत विधान उत्तम काव्य का अनिवार्य उपादान है। अप्रस्तुत को ही उपमान की संज्ञा प्राप्त है। यह काव्य का प्राण है। सामान्यतः अप्रस्तुत विधान का विभाजन– साम्यमूलक, अतिशयमूलक, विरोधमूलक आदि रूपों में किया जाता है। लेकिन जिन अंलकारो को, अधिक अवसर मिलता है वे हैं–उपमा, रूपक, दृष्टांत, आदि। अप्रस्तुत विधान के माध्यम से कवि स्वानुभूत सत्य को प्रस्तुत करता है। कबीर माया को 'अनुभव सांचा' के आधार पर जानकर कहते हैं–
कबीर माया मोहिनी जैसे मीठी खांड
सतगुरू की कृपा भई,नहीं तौ करती भांड।।[25]

संतो की अटपटी बानी को उलटबाँसी कहा जाता है। उलटबाँसी के स्वरूप के संदर्भ में सारतः कहा जा सकता है कि जहाँ पर आध्यात्म की भावना है और उस भावना में विरोधाभास होता है और उस आभास के माध्यम से कवि साधक अपने अभिप्रेत को लुप्त रखना चाहता है। इस उद्देश्य से कि सामान्य व्यक्ति उसके मन्तव्य को न समझ सके वहाँ उलटबाँसी की सत्ता होती है।[26]

संतो अचरज एक भो भारी पुत्रधरल महतारी।
पिता के संगति भई बावरी कन्या रहलि कुंवारी।।
बसमहि छोड़ि संग गौनी, सो किन लेतु विचारी।।[27]

इन उलटबाँसियों की सत्ता इन्हे लोककंठ में स्थान दिलाती है।

संत कवियों की बानी संगीत तत्व को भी आत्मसात करती है। मध्यकाल में जबकि रचित साहित्य अल्प मात्रा में ही उपलब्ध हो पाता था, तब संगीत तत्व के सहारे काव्य को दीर्घकाल तक जीवित रखा जाता था। संगीत में तीन तत्व होते हैं–नाद, छंद और लय। संत काव्य में तीनों के दर्शन होते हैं। संत कवियों की बानियां छंदबद्ध हैं। अनेक छंदों से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने जिस प्रकार काव्यशास्त्र का अंधानुसरण नहीं किया था, उसी प्रकार पिंगलशास्त्र के नियमों से बचने की चेष्टा की थी। उन्होंने अधिकतर उसी छंद का प्रयोग किया है जो उन्हें सरल या प्रभावोत्पादक प्रतीत होते थे या लोक परम्परा से प्राप्त हुये थे। संतो ने अनेक रागों का प्रयोग किया है। इसमें नाद सौन्दर्य है। जैसे– दादू के राग हैं– गौड़ी, कल्याण, भारू, केदारी, सोरठ, बंसत आदि।[28]

संत कवियों की काव्य चेतना का धरातल व्यापक है। इसके स्वरूप में गहराई भी है और विस्तार भी। मध्यकाल में जब धर्म, एवं संस्कृति मानव को एक परिधि में बांधना चाहती है तब संत कवि लोक भाषा मे लोक चेतना को जागृत कर लोक धर्म को स्थापित करते हैं; इसके मूल में है– 'मानुष प्रेम'। यह प्रेम आध्यात्मिक भी है और लौकिक भी। इसी के सहारे 'मानुष सत्य' की खोज होती है और मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा। संत कवियों की काव्य चेतना ने समकालीन भक्ति आंदोलन को एक नयी दशा एवं दिशा दी जिसकी निरंतरता आज भी महसूस की जा सकती है।

सन्दर्भ–

1. कबीर ग्रन्थावली– डॉ0 पारसनाथ तिवारी, हिन्दी परिषद प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग– 1961 ई0, पृ0–163
2. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 144।
3. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 285।
4. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 515।
5. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 515।
6. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 287।
7. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 286।
8. कबीर ग्रन्थावली–श्यामसुंदर दास काशी सं0 2016 वि0, पद –219
9. रज्जब की सर्वांगीः सं0 शहाबुद्दीन इराकी, अलीगढ़, 1985 ई0 पृ0–108
10. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 75
11. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 556
12. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 569।
13. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 73
14. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 157।
15. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 519।
16. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 371।
17. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 372।
18. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 166।
19. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 90
20. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 92
21. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 95
22. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 179
23. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 103
24. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 105
25. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 356
26. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 121
27. निर्गुण भक्ति सागर (Devotional Hindi literature)- Winand M. Callewaert and Bart op de Beeck. मनोहर पब्लिकेशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ0 353
28. निर्गुण काव्यः प्रेरणा और प्रवृत्ति– डॉ0 रामसजन पाण्डेय, सद्भावना प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ0 128

*शोधछात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

पुनर्जागरण युग और भारतेन्दु

आशीष कुमार श्रीवास्तव*

'पुनर्जागरण' किसी राष्ट्र, समाज या जाति के पुनरुत्थान से सम्बन्धित है। किसी भी देश के पुनर्जागरण के पीछे प्रकृति–सिद्ध कारण होता है। जब कोई देश, सभ्यता या जाति अपने शिखर से अवनति की ओर पतनित होती है और पुनः प्रकृतिजन्य कारणों से पुनः उन्नति की ओर आरूढ़ता हेतु आबद्ध प्रतीत होती है वही पुनर्जागरण प्रस्फुटित हो जाता है। 'पुनर्जागरण' मूल रूप से पुनः और जागरण दो शब्दों का मेल है। जिसका तात्पर्य 'नवीन–जागरण' से नहीं लिया जाना चाहिये। नवीन जागरण तो एकदम नई चेतना या विकास यात्रा हो सकती है, जबकि पुनर्जागरण पहले से व्याप्त किसी सत्ता के जो किन्हीं कारणों से अवनित हो चुकी हो उसे पुनः सार्थक विकास द्वारा उर्ध्व की ओर अग्रसर करना है।

हमारे देश में पुनर्जागरण की चेतना के उद्‌गम और प्रसार हेतु हमें थोड़ा अपने इतिहास व अतीत की ओर झॉकना विषय–प्रवेश के दृष्टिकोण से प्रासंगिक व न्याय–संगत होगा।

प्राचीन काल से ही हमारा देश एक धर्मप्राण देश रहा है। विदेशी आक्रमणकारियों ने समय–समय पर हमारे धर्म पर प्रबल प्रहार किया। यह हमारे धर्म की गहरी पैठ ही थी कि इतना सब होने के उपरांत भी हिन्दू धर्म का मौलिक रूप इनके तमाम प्रयासों के बाद भी नष्ट नहीं हुआ, वही पुनर्जागरण काल के माध्यम से भावी भारतवर्ष के लिये एक आधारशिला बना। वस्तुतः इन विधर्मियों से त्राण पाने के लिये हिन्दुओं ने जिस धार्मिक कठोरतावाद की व्यवस्था को प्रचलित किया उससे न केवल वे व्यावहारिक रूप में अपने मौलिक धर्म से च्युत हुये बल्कि इस के साथ–साथ उनकी प्राचीन संस्कृति और धर्म, संकीर्ण से संकीर्णतर होते चले गये और धार्मिक पाखण्डवाद, निरर्थक लोकाचार, अवैज्ञानिक परम्परायें तथा भ्रष्ट नैतिक विश्वास प्रचलित हुये तथा एक ऐसे पुनर्जागरण की आवश्यकता महसूस की जाने लगी, जो इसे न केवल और अधोगति से मुक्त करे, बल्कि उर्ध्वता प्रदान कर तत्कालीन समाज में मुख्यरूप से व्याप्त सतीप्रथा, नर–बलि, कन्या–हत्या, कुलीनवाद, दासप्रथा, बहुपत्नित्व, नारी–अशिक्षा जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर कर समाज और राष्ट्र को एक नई दिशा व गति प्रदान कर सकें।

हमारे देश में सार्थक पुनर्जागरण 18वीं व 19वी शताब्दी के बीच घटित होता दिखाई देता है, जो कि देश की परतंत्रता का काल था। हलांकि इसके पूर्व भी कबीर, सूर, तुलसी, चैतन्य जैसे क्रान्तिकारी धार्मिक पुरुषों ने इस दिशा में सार्थक प्रयास किया मगर वे या तो सीमित लोगों तक ही अपनी पैठ बना पाये और जिनकी पैठ बनी भी तो उनकी सोच व शिक्षा भगवान की लीलाओं तक ही सीमित होकर अपने मूल उद्‌देश्य से भटकती चली गयी। वे राम और कृष्ण को नर से नारायण बनाने में तो सफल हो गये मगर वे केवल उन्हें पूजे जाने भर से नहीं रोक सके और अपने मूल उद्‌देश्य से भटक गये। फिर भी उनके प्रयासों को कमतर नहीं आँका जाना चाहिये।

सामरिक रूप से यदि ये कहा जाय कि भारत में पुनर्जागरण की चेतना का उन्मेष अंग्रेजी संस्कृति के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप हुआ तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसकी पुष्टि निमाई सदन बोस ने अपनी किताब The Indian Awaking and Bengal में स्पष्ट रूप से की है ।[1] मिशनरियों ने स्वार्थ प्रेरित होकर ही सही भारत की प्रसुप्त चेतना को पुनर्जागृत करने का स्तुत्य प्रयास किया और इसके लिये उन्होने धर्म–प्राण भारतीय जनमानस को आंदोलित करने के लियें धर्म को आधार चुना।[2] बाद में जब इनकी व्यापकता धर्मान्तरण के रूप में दृष्टिगत होने लगी और लगा कि ये पुर्नजागरण की आड़ में पूरे हिन्दू समुदाय को ही समाप्तप्राय कर देंगे तब इसकी बागडोर भारतीय महापुरुषों के हाथ में क्रमशः आने लगी, जिसका प्रथम नेतृत्व आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद करते दिखे। जिन्होंने वेद की सच्चाइयों को सबके सामने लाकर स्वयं भी एक ब्राह्मण होते हुये तत्कालीन ब्राह्मणों व पुरोहितों पर न केवल जम कर बरसे, वेदों की प्रथम वैज्ञानिक, सुगम, सुबोध व सर्वग्राह्य व्याख्या की, बल्कि तत्कालीन समाज में व्याप्त तमाम आडम्बर व पाखण्डवाद अवैज्ञानिकता आदि पर करारा प्रहार किया। वे नारी शिक्षा के प्रथम पक्षधर धार्मिक महापुरुष थे तथा स्वतंत्रता संग्राम का बिगुल बजाने वाले अग्रिम लोगों में से थे। तब तक तमाम क्रांतिकारी उनके शिष्य बन चुके थे। हालांकि इनके समानान्तर ही 'ब्रह्मसमाज' के संस्थापक राजा राम मोहनराय द्वारा इस दिशा मे किये गये कार्य भी मील का पत्थर सिद्ध हुये। परन्तु चूंकि उनकी मृत्यु ब्रह्मसमाज की स्थापना के थोड़े ही दिन बाद हो गयी और कालान्तर में इनके शिष्यों ने उनकी सामंजस्यवादी लोकहित के उद्‌देश्य को छोड़ इसे पूर्ण रहस्यवादी धार्मिक बाना पहना दिया, फलस्वरूप यह लुप्त होता चला गया। इसके विपरीत स्वामी दयानंद ने आर्य समाज की स्थापना कर और अपनी अमरकृति 'सत्यार्थप्रकाश' के माध्यम से इतना स्पष्टीकरण कर दिया था कि परवर्तीकाल में उनमें संदेह उन्पन्न होने व समाज विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठा।[3]

इस तरह पुनर्जागरण का सूत्रपात जहॉ राजाराममोहन राय प्रादेशिक स्तर पर करते दिखे वहीं इसका मध्याह्न काल स्वामी दयानंद राष्ट्रीय स्तर पर करते पाये गये व तिरोभाव विवेकानंद समेत अन्य ने किया।

पुनर्जागरण हेतु जहॉ एक ओर सामाजिक व धार्मिक आन्दोलन समाज–सुधारकों व धार्मिक महापुरुषों द्वारा लगातार चलते रहे। वहीं उसके समानान्तर साहित्य–सेवक अपने साहित्य द्वारा ज्ञान की सरिता बहाते रहे। जिसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अग्रणी माने जाते हैं। जिन्होंने अपने साहित्यिक साहस और अनुशासन से अल्पायु होते हुये भी समाज–सुधार की एक ऐसी अलख जगायी जो परवर्ती साहित्यकारों के इस दिशा में एक नया सम्बल दे गया। इनका युग जहाँ समाज सुधार के रूप में पुनर्जागरण काल कहा जाता है वहीं साहित्य के दृष्टिकोण सें इनका उदय हिन्दी कविता के लिये नवीन जागरण के संदेश वाहक युग के रूप में माना जाता है। वैसे साहित्य में काल खंडों की प्रारम्भिक और अंतिम तिथियाँ विशेष सार्थक नही होती हैं। वस्तुतः साहित्य भाषा विशेष के बोलने वालों की चेतना में आने वाले परिवर्तन का प्रतिबिम्ब होता है। और चेतना में यह परिवर्तन एकाएक किसी तिथि विशेष को नहीं होता है, बल्कि धीरे–धीरे होता है। इसलिये पुनर्जागरण काल को निश्चित समयावधि में नही बॉधा जा सकता।

पुनर्जागरण का भारतीय साहित्य में पहला प्रतिफलन

माइकेल मधुसूदन दत्त के बंगला काव्य 'मेघनाद–वध' (1861) को माना गया है। पुनर्जागरण आन्दोलन और हिन्दी साहित्य के विकास में कलकत्ता की दो शैक्षणिक संस्थाओं का विशिष्ट योगदान रहा है। इसका एक कारण यह भी माना जा सकता है कि यही वह स्थान था जहाँ सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति की युरोपीय संस्कृति से टकराहट प्रारम्भ हुई थी। यूरोपीय संस्कृति नयी वैज्ञानिक सभ्यता और चिंतन पर आधारित थी, जबकि भारतीय संस्कृति धर्म और अध्यात्म प्रधान थी । इस टकराहट से विशिष्ट सांस्कृतिक उर्जा उत्पन्न हुई जिसे हम भारतीय पुनर्जागरण का नाम देते हैं। इस उर्जा से समवेत में पश्चिम भी प्रभावित हुआ। जो कि रविन्द्र नाथ ठाकुर के 'गीतांजलि' की भूमिका से स्पष्ट है जिसको कि एक अंग्रेज विद्वान येट्स ने लिखा है। टी.एस.इलीयेट की रचना 'द बेस्ट लैंड'[4] इस दिशा में मील का पत्थर है। गीतांजलि पर नोबल पुरस्कार की घोषणा साहित्यिक पुनर्जागरण की व्यापक आज पश्चिम के पास सब कुछ है मगर सुख और शान्ति का व्यापक अभाव है, जिसके लिये भारतीय संस्कृति एक अच्छा स्रोत है, – टी.एस. इलियट – द बेस्ट लैंड स्तर पर स्वीकृत है। संवत 1922 में भारतेन्दु बाबू अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गये और इसी यात्रा में उनका साक्षात्कार बंगदेश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ, जिसका कि उस काल विशेष में हिन्दी साहित्य में अभाव हो गया था और इसी यात्रा ने उन्हें इस दिशा में कुछ नया करने को प्रेरित किया।[5]

चूंकि किसी दूसरे साहित्य के आदर्श पर अपने वास्तविक साहित्य का निर्माण नहीं होता। अपने युग की संवेदनाओं को आत्मसात् करके ही भारतेन्दु ने नये ढंग की साहित्य रचना का समारम्भ किया। वस्तुतः पूर्व के जनजागरणोन्मुख भक्तिशास्त्रीय समाज–शास्त्र की गतिशील सृजनात्मक चिन्तनधारा, जिसके अन्दर विपत्ति और संघर्ष की आँधियों में भी अपना अस्तित्व बचाये रखने की भरपूर क्षमता विद्यमान थी और जिसे आधुनिकता ने लगभग फेंक डाला था, से अनुप्राणित भारतेन्दु बाबू ने इस ब्रह्मा के कमण्डल के गंगाजल को प्रेम–सरोवर बना अपने अन्दर आत्मसात् कर साहित्य साधना में लग गये। आज हम इसी चिंतन से कट गये हैं इसीलिये हमारा जीवन अनास्था और संत्रास से जूझ रहा है। हमारे भीतर का जीव जीवन–जल की प्यास में अधमरा पड़ा है। भारतेंदु इस प्रेम सरोवर के प्रेम–लोक की प्रेमलीला के लोकानन्द की शक्ति को पहचानते थे, जिनका प्रेम भावालोक अनास्था के प्रकाशलोक के पुनर्निर्माण की कहानी है। वैसे यहाँ यह स्पष्ट करना न्यायोचित होगा कि भारतेंन्दु के रचना क्रम का लक्ष्य मूल रूप से स्वाधीनता ही था, चाहे वह राष्ट्रीय स्वाधीनता हो, सामाजिक या 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल' कहते हुए भाषाई स्वाधीनता की बात वो करते हों। उनका स्पष्ट संकेत था कि पश्चिम से केवल हमे अंग्रेजी भाषा प्राप्त हुई है पर कला–कौशल के दृष्टिकोण से हम निरन्तर अज्ञान सागर में निमग्न होते जा रहे हैं।[2] उन्होने भारतीय धर्म और संस्कृति का प्रगाढ़ अध्ययन किया तथा देश के समकालीन दशा का तो वे आजीवन पर्यवेक्षण करते रहे। उन्होंने अपने धर्म और अपनी संस्कृति की मौलिक बातों को परीक्षा की कसौटी पर सत्य पाया। धार्मिक रूढ़ि, अन्धविश्वास अनैतिक परम्परायें उन्हें ऐतिहासिक व्यतिक्रम के कारण उत्पन्न विकृतियों के रूप में दिखाई पड़ी। देश के धार्मिक सामाजिक उन्नयन के लिये इन विकृतियों का विच्छेद आवश्यक समझते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में इनके मूलोच्छेदन के लिये दो विधियों का प्रयोग किया एक में वे अपने प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों का प्रमाण देकर उन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया दूसरे में पश्चिम को स्वस्थ विचारधारा को भारतीय परिवेश में ढालकर उसका विचारपूर्ण प्रतिपादन किया। यही उन्हें अन्य समकालीन विचारकों से अलग करती है। भारतेन्दु ने तत्कालीन भारतीय धर्म और संस्कृति की कटु आलोचना की क्योंकि उसका स्वरूप विकृत हो चुका था।[6]

भारतेन्दु ने भारतीय धर्म और संस्कृति के जिस यथार्थ स्वरूप से भारतीय मानस को परिचित कराने का प्रयास किया वह प्रत्यक्ष संसार में न होकर भावात्मक जगत में था। वेद, उपनिषद, पुराण में था। जनता प्रत्यक्ष में अधिक विश्वास करती और उससे प्रभावित होती है। भारतेन्दु ने इसके लिये एक अन्य मार्ग का अनुसंधान किया। अपने धर्म और समाज के विद्रूप को समाप्त करने के लिये उन्होंने पाश्चात्य धर्म और सामाजिक व्यवस्था के श्रेष्ठ प्रतिमानों को भी आत्मसात् करने में कोई संकोच नही किया। इस तरह भारतेन्दु ने अपने साहित्य में पुनर्जागरण–युगीन चेतना का सन्निवेश सचेष्ट होकर किया व तत्कालीन समाज को पाश्चात्य धर्म और संस्कृति से आगे बढ़ जाने को प्रेरित किया।

राजाराममोहन राय अपने पुनर्जागरण का आधार जहाँ मूलरूप से सतीप्रथा का विरोध, स्त्री–शिक्षा का प्रचार, विधवा–विवाह को प्रोत्साहन, जातिभेद, एकेश्वरवाद, विदेश–गमन, धार्मिक कर्मकांड आदि को बनाया वहीं भारतेन्दु के पुनर्जागरण का मूलआधार स्त्री–शिक्षा, अंग्रेजी पढ़ने पर भी बल, हिन्दी का व्यापक प्रसार, स्त्री–पुरुष समानता, वर्ण–व्यवस्था को प्रश्रय, मूर्तिपूजा की सार्थकता, छूआछूत, राष्ट्रीयता, स्वदेश विचारधारा आदि थे। यद्यपि दोनों पुनर्जागरण में काफी समानतायें हैं और जो भी अन्तर आये हैं वह समय और परिस्थितियों की देन माने जा सकते हैं। भारतेन्दु नारी की समानता और शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। उनके अनुसार ऋग्वेदकालीन व्यवस्था में नारी को पुरुषों के समान समुचित अधिकार प्राप्त थे जो कालान्तर में सामाजिक व्यवस्था में गिरावट के कारण क्षीण होते चले गये परिणामस्वरूप समाज का पतन होता चला गया। 'बाल–बोधिनी'[7] पत्रिका उन्होंने मात्र नारियों के लिये ही निकाली। नारी शिक्षा के प्रति उनका विचार बड़ा ही व्यापक और उदार था। 'नीलदेवी'[8] नाटक में उन्होंने नील देवी के माध्यम से आदर्श भारतीय नारी के चरित्र को उकेरने का सफल प्रयास किया है। इसी तरह बाल–विवाह का प्रबल विरोध उनके 'मदालसोपाख्यान' नामक निबन्ध में मिलता है।

भारतेन्दु की धारणा थी कि अंग्रेजी ज्ञान–विज्ञान के सम्पर्क में आने से भारतीयों की कूपमण्डूकता दूर होगी। इस तरह शिक्षा के प्रति उनका दृष्टिकोण उपयोगितावादी था।[3]

'उत्तम शिक्षा लीजिये, जदपि नीच पे होय।
परो अपावन ठौर में, कंचन तजे न कोय ।।'

उनका मानना था कि अंग्रेजों के माध्यम से ही हमारे देश में वैज्ञानिक उपकरणों का उपयोग प्रारम्भ हुआ है, जो कि भावी विकास की धूरी थी। इस तरह इस सम्पर्क को लाभ उठाकर हमें अपने आप को उन्नतशील बनाना चाहिये।

वस्तुतः भारतेन्दु अंग्रेजी को हिन्दी शिक्षा के पूरक के रूप में चाहते थे। वे उस अंग्रेजी के विरोधी थे जो भारतीयों को गुलाम बनाती थी वे उस अंग्रेजी के पक्षधर थे जिसके सम्पर्क और ज्ञान से तत्कालीन भारतीय समाज ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़कर अपना समुचित विकास कर सकें। यही कारण था कि भारतेन्दु बालिकाओं के लिये पाश्चात्य ढंग की शिक्षा के

विरोधी थे। वे कहते हैं कि –

'लड़कियों को भी पढ़ाइये मगर उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ायी जाती है, जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिये वह अपना देश कुल–धर्म सीखें, पति की भक्ति करें और लड़कों को सहज शिक्षा दें।'[10] लड़कों की शिक्षा के लिये भी वो कहते हैं कि वे अंग्रेजी संस्कारों से दूर रह कर अंग्रेजी ग्रहण करें।

'अंग्ररेजी पढ़िके जदपि, सब जग होत प्रबीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन, रहत हीन के हीन।।'

स्त्री–शिक्षा के सम्बन्ध में भारतेन्दु का प्रस्तुत कथन कितना उत्तेजनापूर्ण और क्रांतिकारी है, समझा जा सकता है।

'सीता अवश्य किसी स्त्री का नाम होगा और इसी से बोध होता है कि स्त्री–शिक्षा उस समय प्रचलित थी। तो हम क्यों नही समझते कि हम इसका विरोध कर क्यों अपने देश की उन्नति होने नहीं देना चाहते हैं। एक समय अत्यन्त मूर्ख अमेरिका में स्त्री–शिक्षा कितनी प्रचलित है। यह देखकर हे हिन्दुस्तानियों ! क्या तुमको थोड़ी भी लज्जा नहीं आती ?'[11]

अंग्रेजी शिक्षा को वह इसलिये भी अनिवार्य समझते थे कि बिना इसके पढ़े बड़े – बड़े सरकारी पदों पर हम कैसे पहुँच सकते हैं और इसीलिये विदेश गमन के भी वे पक्षधर थे।[12]

पुनर्जागरण–युग चेतना से सम्बद्ध भारतेन्दु को अपनी मातृभाषा से अगाध प्रेम था। वे इसके बिना तो अपने समाज और संस्कृति की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसीलिये उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि –

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति कौ मूल
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल '

भारतीय निज भाषा को ही अपने समग्र उन्नति का मूल मानते हैं, उनका स्पष्ट कथन है कि– मातृभाषा संस्कृति–प्रदत्त होती है। उसका विकास, संवर्धन अपनी संस्कृति में से जातीय आवश्यकताओं के अनुरूप हुआ करता है। जबकि विदेशी भाषा आरोपित होती है। इसीलिये समग्र उन्नति हेतु अपनी भाषा ही उपयुक्त होती है। हॉ ज्ञान और भाषा–संवर्धन हेतु भी वो स्पष्ट कहते हैं कि –

'अंगरेजी अरु फारसी, अरबी संस्कृत ढेर
खुले खजाने तिनहि क्यों लूटत लावहु बेर'

इस तरह निसंदेह कहा जा सकता है कि आज हिन्दी का जो स्वरूप निर्मित हुआ है, वह भारतेन्दु की ही निर्मित लीक पर चल कर हुआ है।

जहॉ तक तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति की बात है। भारतेन्दु स्पष्ट लिखते हैं कि– 'हिन्दुस्तानी, एक स्त्री को केवल कामशान्त्यर्थ वा घर की सेवा करने वाली मात्र मानते हैं'[13] इसीलिये भारतेन्दु स्त्री–पुरुष के समाधिकार के सन्दर्भ में पुरुषों के समानन्तर स्त्रियों को शिक्षित करने की अपील की है।

इसी तरह विधवा–विवाह के संदर्भ में उनका मंतव्य था कि विधवा से व्यभिचार कराने से तो उसका पुनर्विवाह कर देना ही उचित है।

'विधवा व्याह निषेध कियौ, बिभिचार प्रचारयौ'[14]

भारतेन्दु ने स्त्रियों से भी अपील की है कि वे अपने स्वत्व और अधिकार को पहचान कर तदनुसार आचरण करें।

मानववाद का उद्घोष पुनर्जागरण–युगीन चेतना का अत्यन्त महत्वपूर्ण पहलू है। मानववाद की विचारधरा रूसो के विचार और फ्रांस की राज्य–क्रांन्ति के फलस्वरूप पश्चिम से भारत आयी। राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रभृति लोगों ने विश्वबन्धुत्व और मानववाद का ही पोषण किया। मानववाद की परिकल्पना जाति,धर्म संस्कृति रहित थी, इसमें संसार के सम्पूर्ण मनुष्यों का एकमात्र धर्म मानवता माना गया है। इसी आधार पर भारतेन्दु जाति–व्यवस्था और ऊँच–नीच की भावना को समाज की उन्नति में बाधक मानते हुये कहते हैं कि –

जाति अनेकन करी, नीच अरु ऊँच बनायो।
खान–पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायौ।

इसी तरह राजनैतिक पुनर्जागरण के सम्बन्ध में भारतेंदु द्वारा उद्घाटित सत्य कि भारत कैसे उन्नति करेगा के सन्दर्भ में कहना था कि – 'सब उन्नतियों का मूल धर्म है। अतः सबसे पहले धर्म को ही उन्नत करना चाहिये। देखो अंग्रेजों की धर्मनीति और राजनीति परस्पर मिली है, इससे दिनों दिन उनकी कैसी उन्नति है।'[15] भारतेन्दु का कथन है कि राजन्य वर्ग को राज्य का मद कभी नहीं होना चाहिये अन्यथा उसके और प्रजा के बीच सेवक और सेव्य का पवित्र सम्बन्ध न होकर मात्र शासक और शासित का भाव रह जायेगा, जो दोनों के मधुर सम्बन्ध में कटुता ला देगा।

दिनकर के अनुसार, 19वीं सदी का भारतीय पुनर्जागरण धर्म–सुधार तक ही सीमित न होकर राष्ट्रवाद, समाज–सुधार आर्थिक विकास तक विस्तृत था। अतएव इसका प्रवृत्तिमार्गी होना स्वाभाविक था। भारत को विदेशी पराधीनता से मुक्ति दिलाने के लिये भी प्रवृत्तिमार्गी होना आवश्यक था। फलतः सारा हिन्दू दर्शन प्रवृत्ति के ही उत्स सा दिखने लगा था और गृहस्थ को संन्यास से श्रेष्ठ समझने में जो बाधा आ रही थी वह भारतेन्दु की रचनाओं से कमशः क्षीण होने लगी थी ।'[16]

इस तरह हम देखते हैं कि भारतेन्दु ब्रह्मसमाजियों की तरह प्रतिकियावादी नहीं थे और न ही सनातन–धर्मियों की तरह पुरातनपंथी। वे समन्वयवादी है और देश–काल के अनुरुप समस्त सामाजिक, धार्मिक व्यवस्थाओं और परम्पराओं में परिवर्तन को स्वीकार करते हुये इसे आवश्यक बताते हैं। इन सब के प्रति भारतेन्दु का दृष्टिकोण स्थिर न होकर गतिशील है। इसीलिये इसमें शाश्वत जीवन्तता है।

भारतेन्दु युग–द्रष्टा ही नहीं अपितु युग निर्माता भी है। उन्होंने देखा कि ज्ञान के इस शुष्क प्रवाह में हमारी पौराणिक संस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग भक्ति–भावना हमसे अलग हो रहा है। यद्यपि वे भक्तिवाद के गुण–दोषों से सर्वथा परिचित थे। उन्हें लगा कि यदि भक्ति भावना को दोषमुक्त कर दिया जाय तो यह पूरे देश को एक सूत्र में पिरोने का पुनीत कार्य कर सकती है। इसीलिये उन्होंने अध्यात्म और भक्ति को कभी नही छोड़ा।

इस तरह तत्कालीन समाज में प्रचलित कुरीतियों को दूर करने का भारतेन्दु के मन में अदम्य उत्साह था। अपने समाज–सम्बन्धी दृष्टिकोण उन्होंने विशेषकर नाटकों में प्रकट किये हैं। भारतेन्दु ने इन सबके विरुद्ध आवाज उठायी और समता तथा विश्व–वन्धुत्व की भावना पर आधारित एक प्रशस्त मानव समाज के निर्माण का प्रयास किया ।

सन्दर्भ–

1. The introduction and growth of western education was perhaps the most important single factor in the Indian awakening. It was the liver which moved the medieval Indian world, after centuries of inertia under Muslim rule The Indian awakening and Bengal, N.S. Bose, p.81

2. The welfare of the country was certainly in their minds, but their main drawback was they failed to realize the force of historical changes taking place in country. They were trying to prevent the coming storm by shutting the doors and window and found them selves fighting a losing battle. The Indian Awakening and Bengal N.S. Bose, p.61
3. पुनर्जागरण और भारतेन्दु – डा.मंगला प्रसाद, पेज 14
4. आज पश्चिम के पास सब कुछ है मगर सुख और शाान्ति का व्यापक अभाव है, जिसके लिये भारतीय संस्कृति एक अच्छा स्रोत है, –टी.एस. इलिएट–द बेस्ट लैंड
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल
6. कवि–वचन सुधा, 8 फरवरी, 1974
7. बाल–बोधिनी पत्रिका में नारी विषयक समस्त सामग्री का समावेश किया गया है, जिनका कि तत्कालीन समाज में तेजी से लोप हो रहा था और जो अपने संरक्षण का बाट जोह रही थी।
8. इसी तरह नीलदेवी में भीरुता, अर्धर्य, कोमलता आदि के विपरीत साहस, दृढ़ता और कठौरता जैसे पौरुष गुण मिलते थें। जो भारतेन्दु के अनुसार उस परिवश में नितान्त आवश्यक थे।
9. अंग्रेजों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर अवसर पाकर भी हम लोग जो इस समय उन्नति न करें तो हमारा केवल अभाग्य हौर परमेश्वर को प्रकोप ही है। – भारतेन्दु ग्रन्थावली–3, पृ0 897
10. भारतेन्दु ग्रन्थावली – 3 पृ; 901
11. भारतेन्दु ग्रन्थावली –3 पृ; 23
12. सिविल सर्विस का, बैरिस्टरी का, इंजिनियरिंग का इम्तहान देने विलायत जाना होगा। बिना यह सब किये काम न चलेगा, क्योंकि देखिये कृस्तान, मुसलमान, पारसी हाकिम हुये जाते है। – भारतेन्दु ग्रन्थावली – 3 पृ; 801
13. भारतेन्दु ग्रन्थावली – 3 पृ; 100
14. भारतेन्दु ग्रन्थावली – 1 पृ; 475
15. भारतेन्दु ग्रन्थावली – 3 पृ; 900
16. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह 'दिनकर

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

लघुमानव की अवधारणा और नयी कविता

सुरेश चन्द्र*

नयी कविता के दौर में 'लघुमानव' पर्याप्त बहस का केन्द्र रहा है और उस समय के आलोचकों ने इसे अपने–अपने ढंग से व्याख्यायित भी किया है। इस समय 'लघुमानव' को लेकर जो दिक्कतें महसूस की गयीं या जो बहसें हुई, उनमें 'लघु' पर ज्यादा ध्यान दिया गया और 'लघु' को मनुष्य का विपरीत विशेषण मानकर ही 'लघु' की अनेक व्याख्याएं हुई। जबकि लक्ष्मीकांत वर्मा बार–बार यह कहते रहे कि ''यह लघुता लघुतम का पर्याय है हीनता का नहीं, चूंकि यह युग बिना इस लघुतम के पर्याय की सार्थकता के आगे बढ़ ही नहीं सकता।''[1] लक्ष्मीकांत वर्मा का यह 'लघुमानव' प्रगतिवाद के वर्ग मानव और स्वर्ण किरण आदि से ओत–प्रोत अरविन्दवादी 'महामानव' इन दोनों से अलग है। अतः यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर यह 'लघुमानव' क्या है? जैसा कि साही जी ने लिखा है कि ''मनुष्य की हर परिभाषा मूलतः सहज मनुष्य की परिभाषा है।''[2] यह 'लघुमानव' भी नयी कविता के काल का सहज मनुष्य ही है। जो कि अपने विवेक से संचालित होता है और किसी वैचारिक आग्रहों की आत्यंतिकता का शिकार नहीं होता है।

साहित्य हमेशा से ही नये संदर्भों में मनुष्य को परिभाषित करने का कार्य करता है। और यह मनुष्य देश कालातीत नहीं होता बल्कि अपने परिवेश के सन्दर्भ में ही ऊर्जावान होता है। मनुष्य को उसके अपने वातावरण एवं परिवेश में ही सन्दर्भवान बनाने का कार्य साहित्य करता है। साहित्य के ही माध्यम से मनुष्य की खोज और उसकी अस्मिता के सवाल विभिन्न युगों में अलग–अलग ढंग से उठाये गये हैं। ये सवाल जब स्वयं की बुनियादी अस्मिता के साथ टकराते हैं या फिर मनुष्य अपने अस्तित्व की सार्थकता को खोजने का उपक्रम करता है तो वह 'आत्मचिन्तन' के दायरे में होता है और मूलतः हर सामाजिक चिन्तन भी 'आत्म' से जुड़ा होता है।

नयी कविता के दौर में 'लघुमानव' की अवधारणा पर जो बहसें हुई हैं, उन बहसों में मनुष्य की खोज का सवाल अहम रहा है। और नयी कविता ने मनुष्य को उसकी पूरी समग्रता में देखने का कार्य किया है। खासकर उसकी व्यक्तिगत अस्मिता की पहचान को इस काल में महत्वपूर्ण बिन्दु माना गया। वस्तुतः नयी कविता में मनुष्य आत्मकेन्द्रित चिन्तन से अपने परिवेश की विसंगतियों के बीच अपने अस्तित्व की सार्थकता को खोजता है। जहां आस्था के साथ नितांत समसामयिकता के मूल से यथार्थवाद मनुष्य को अपने इर्द–गिर्द के वातावरण को समझने में मदद करता है। यद्यपि प्रगतिवाद के दौर में यथार्थ पर बल दिया गया किन्तु मनुष्य की वास्तविक जिन्दगी उसके तनाव, उसके अन्तर्द्वन्द्वपर ध्यान कम दिया गया। इस दौर में मनुष्य नहीं बल्कि मनुष्य के समूह की अनुभूतियों और पीड़ा पर बल दिया गया। इसी को लक्ष्य करके मुक्तिबोध ने लिखा भी है कि ''हिन्दी साहित्य में नयी कविता का प्रसार होता जा रहा है, उसे कोई रोक नहीं सकता। आज के प्रगतिवाद में वाह्यपक्ष का ही चित्रण किया जाता हैं व्यक्तिगत यथार्थ आन्तरिक अनुभूति को तो वह लोग जैसे छूते ही नहीं। यहीं उनका मामला गड़बड़ है।''[3]

'लघुमानव' की जो प्रतिष्ठा नयी कविता के दौर में हुई उस पर कुछ लोगों ने उंगली उठायी। लेकिन अधिकांश ने इस जीवन एवं स्वविवेक से नियंत्रित मनुष्य को पहचाना। जो एक सजग इकाई के रूप में सामने आता है। जब डॉ0 रामविलास शर्मा विजयदेव नारायण साही के लेखन में यह लक्षित करते हैं कि साही ने 'लघुमानव' एवं 'महामानव' में भेद स्थापित किया है, जबकि उनके सम्पूर्ण लेख में कहीं ऐसा लगता नहीं कि 'लघु–महत्' के विरोध में खड़ा है। जैसा की उन्होंने साफ लिखा है– ''लघुमानव के प्रति एक आपत्ति यह भी है कि यह कल्पना मनुष्य की महत्ता या महानता का निषेध करती है, मनुष्य का जो सर्वश्रेष्ठ है, सबसे विराट है उससे हमारे सम्बन्ध को तोड़ देती है। मुझे इसमें शाब्दिक चमत्कार ज्यादा दिखलाई पड़ता है, तत्व कम। क्योंकि सत्य यही है कि लघु–महत् में वैसी दुश्मनी नहीं है जैसा कि शब्द–कोष बतलाता है।''[4] इसके बावजूद भी डॉ0 शर्मा यह मानते है कि साही ने 'लघुमानव' एवं 'महामानव' में भेद स्थापित किया है। यह बात कुछ जंचती नहीं है।

'लघुमानव' स्वविवेक और स्वतंत्रता से जुड़ी हुई मानवीय अवधारणा है। मलयज उस 'लघुमानव' के आधार तत्व को खाजने का प्रयास करते हैं और यह पाते हैं कि 'लघुमानव' का उत्स नयी कविता के सैद्धान्तिक उत्स से जुड़ा हुआ है। वे लिखते हैं ''औसत आदमी क्षण–क्षण का यथार्थ वाह्यारोपित विचारधारा या दर्शन का विरोध। कारखाना वही है जहां से नयी कविता की सैद्धान्तिक मान्यताएं अक्सर आकार पाती हैं।''[5] मलयज इस उद्धरण में जिस कारखाने की चर्चा करते हैं वह वास्तव में नयी कविता के पृष्ठभूमि की वास्तविकता है।

नयी कविता के समय में मनुष्य चौतरफा वैचारिक आग्रहों से आकांत था। अतः स्वविवेक और अपनी स्थिति की दयनीयता ने उसे समसामयिक विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष के लिए प्रेरित किया, जिससे अपनी स्थिति की सार्थकता को प्रमाणित कर सके। यही मनुष्य नयी कविता के काल में 'लघुमानव' से संज्ञापित किया गया। अतः 'लघुमानव' एवं उस समय के आम आदमी में कोई भेद नहीं था। मलयज इस संघर्ष करता हुआ 'लघुमानव' के प्रति आकर्षित हैं और वे लिखते हैं कि '''लघुमानव' में जो औसत आदमी है उसकी संघर्षरत थकी, टूटी फिर भी अपराजित आकृति हमें आकृष्ट करती है। यथार्थ की कटुताओं, विसंगतियों को भोगने की उसकी उत्कट जिजीविषा प्रेरित करती है और हमें ऐसा लगने लगता है कि लक्ष्मीकान्त के 'लघुमानव' और आज के आदमी में कोई बहुत बड़ा फर्क नहीं है।''[6] नयी कविता ने अपने भीतर जिस मनुष्य को आत्मसात किया वह यथार्थ से अभिन्न एक सहज मानव ही था। और औसत आदमी या सहज मानव की सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी वैचारिक स्वतंत्रता या स्वविवेक के अनुसार निर्णय। यही कारण है कि आज का 'लघुमानव' या सहज मानव सभी पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर अपनी स्थिति का स्वयं नियन्ता भी है।

'लघुमानव' कोई अमूर्त अवधारणा नहीं है। यह 'लघुमानव' आधुनिकता का वहन करने वाला मानव है। और यह आधुनिकता मानव स्वाभिमान एवं उसके स्वतंत्र्य की चेतना से जुड़ी है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि 'लघुमानव' तत्कालीन समय एवं समाज में संघर्षरत आदमी का ही प्रतीक है जो कोई पूर्व निरपेक्ष अवधारणा से ग्रस्त नहीं है। अतः

'लघुमानव' सहज मनुष्य की परिभाषा है। वह अपने समय एवं समाज का ही प्रतिनिधि है, इससे अलग उसकी कोई सत्ता नहीं है।

'लघुमानव' की परिकल्पना ने मनुष्य को समसामयिक चिंता के केन्द्र में खड़ा किया है। यही कारण है कि साही अपने महत्वपूर्ण लेख– 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' शीर्षक में 'लघुमानव' के सन्दर्भ को जोड़कर रखा है। इस आलेख में साही ने हिन्दी कविता की, छायावाद से लेकर नयी कविता तक की यात्रा को तय करते हैं तथा वे उसके विकास क्रम को एक सम्बन्ध में जोड़कर देखते हैं। वे कहते हैं ''यह सही है कि यदि हम इन कवियों और लेखकों को ध्यान से देखेंगे तो छायावाद और नयी कविता के बीच दुर्लध्य खाईं के बजाय एक क्रमशः विकसित होती हुई परम्परा दिखालाई पड़ेगी और छायावाद के 'महामानव' और आज के 'लघुमानव' के बीच इतनी सख्त फौजदारी होती हुई भी नहीं दिखाई देगी।''[7]

नयी कविता में 'लघुमानव' अपनी समूची जिजीविषा एवं संघर्षशीलता के साथ प्रकट हुआ है। आज के मनुष्य की जो निराशा, संत्रांष, पस्ती, कुठा आदि व्याप्त है, उसमें इनसे उबरने की उत्कट आकांक्षा है। और यह आकांक्षा यथार्थ–बोध के बिना सम्भव नहीं है। नयी कविता में मनुष्य के इसी यथार्थ रूप की उसकी पूरी अर्थवत्ता के साथ अभिव्यक्ति हुई है। अतः हम कह सकते हैं कि साही निश्चय ही लघुमानव की विचारणा के आधार पर छायावाद से नयी कविता तक की विकासा यात्रा को सुस्पष्ट एवं तीक्ष्ण बनाते हैं। लघुमानव की अवधारणा का यह योगदान कम नहीं है। नयी कविता में इस पर चिन्तन से उस काल की मनः स्थिति को समझने में मदद मिलती है।

सन्दर्भ–

1. नयी कविता और विजय देवनारायण साही–अनिल त्रिपाठी, पृ. 54.
2. छठवां दशक–विजय देवनारायण साही, पृ. 260.
3. मुक्तिबोध रचनावली, पृ. 318.
4. छठवां दशक–विजय देवनारायण साही पृ. 262.
5. संवाद और एकालाप, मलयज, पृ. 42.
6. संवाद और एकालाप–मलयज, पृ. 43.
7. छठवां दशक–विजय देवनारायण साही, पृ0 279.

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

राग दरबारी : एक सामाजिक दस्तावेज

अशोक कुमार*

साहित्य को समाज का आईना कहा जाता है और 'राग दरबारी' इस कथन को पूर्णतः चरितार्थ करता है। 'राग–दरबारी' प्रसिद्ध व्यंग्यकार श्रीलाल शुक्ल द्वारा 1968 में रचित ऐसा उपन्यास है जिसने समाज का गहराई से अध्ययन कर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य का तीव्र प्रहार किया। इस उपन्यास में तत्कालीन समाज राजनीति, धर्म अफसरशाही, जनजीवन, क्रियाकलापों का हूबहू चित्रण किया। 'राग–दरबारी' में तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगतियों और विद्रूपताओं का विचार से वर्णन किया गया है जो आज भी जस की तस बनी हुई हैं। आज़ादी के पश्चात् लोगों के मन में पुरानी समाज संरचना और विकृतियों के बदल जाने की जो आकांक्षाएं थीं वे दिन–प्रतिदिन क्षीण होती जा रही थीं। पन्द्रह–बीस साल बाद भी मूल स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं आया था। सत्ता परिवर्तन हो चुका था किन्तु मानसिकता में किसी प्रकार का बदलाव नहीं आ सका था।

समाज में जो वर्चस्वशाली वर्ग था वह आपाधापी में लग गया। सजाज के सभी वर्गों में यही प्रवृत्ति पनप रही थी। गांव से बाहर जाकर शिक्षा प्राप्त करने वाले नौजवान नौकरी पाकर शहरों में बस गए। गांवों में क्या हो रहा है इससे उनका कोई सरोकार नहीं रहा। अधिकांश अभिजात वर्ग जो सत्ता के शीर्ष पर पहुँचकर नीति–निर्धारण से लेकर उसके अनुपालन से जुड़ा था, ने भी समाज या देश हित के स्थान पर 'स्वहित' पर ध्यान केन्द्रित रखा। इसका असर सम्पूर्ण समाज पर नीचे से ऊपर तक पड़ा। ऐसे में कुछ भी मूलभूत बदलाव नहीं हुए। दिखाने के लिए ऐसे तत्व लोकतांत्रिक जरूर हो गए पर उनके मूल आचार–विचार ज्यों के त्यों बने रहे। 'राग–दरबारी' में इन्हीं सब प्रवृत्तियों को 'शिवपालगंज' गांव के माध्यम से प्रकाश में लाया गया है।

'राग दरबारी' के समय तक जनता का नेहरू युग से मोह भंग हो चुका था। भारतीय राजनीति में उथल–पुथल मची हुई थी। कांग्रेस का एकाधिपत्य समाप्त होकर राज्यों के स्तर पर लोहिया का गैर कांग्रेसवाद आकार ले रहा था। नक्सल आन्दोलन की शुरूआत हो चुकी थी। राजनीति बेपर्दा हो चुकी थी। राजनीति के इस रूप को 'राग–दरबारी' में इस प्रकार दिखाया गया है– 'ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिल्कुल अपने देश की हुकूमत जैसा है।' रंगनाथ ने बात को और साफ करते हुए कहा–'उसे चाहे जितनी बार टाप गियर में डालो, दो गज चलते ही फिसल जाती है और लौटकर अपने खांचे में आ जाती है।'[1]

राग–दरबारी का गांव 'शिवपालगंज' समस्त भारतीय ग्रामीण संस्कृति के दर्शन करा देता है। शौचालयों के अभाव में अंधेरे में ही सड़क किनारे शौच के लिए जाना भारतीय ग्रामीणों की नियति है जो अधिकांशतः आज भी बदस्तूर जारी है। समाज की इस विडम्बना पर 'राग–दरबारी' में तीव्र व्यंग्य किया गया है– "थोड़ी देर में ही धुंधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियाँ सी रखी हुई नज़र आयीं। ये औरतें थीं, जो कतार बांधकर बैठी हुई थीं। वे इत्मीनान से बातचीत करती हुई वायु सेवन कर रही थीं और लगे हाथ मलमूत्र का विसर्जन भी।"[2]

'राग–दरबारी' का मूल है– ग्रामीण जनजीवन। समाज में अमीर–गरीब, जातिगत द्वेष–भाव, ब्राह्मण, बनिया, ठाकुरो द्वारा शूद्रों पर किए जा रहे अत्याचार, गांव के बाहर शूद्रों की मलिन बस्ती, उनके विद्रूप और विषमतापूर्ण जीवन में किसी प्रकार का बदलाव न आना जैसी विडम्बनाओं और विसंगतियों पर प्रमुखता से ध्यान आकृष्ट किया गया है। गाँवों में किसानों की अशिक्षा और निर्धनता की आड़ में शोषकों के षड्यंत्र हैं। जमींदार, साहूकार, ठेकेदार, व्यापारी, सरकारी अफसर आदि मिलकर किसान व गरीब मजदूर पर अनेक प्रकार के अत्याचार–अनाचार कर उनका शोषण कर रहे हैं। इसका वर्णन 'राग–दरबारी' में इस प्रकार है– "एक जमाना था कि किसी बाँभन–ठाकुर के निकलने पर वहाँ के लोग अपने दरवाजे पर उठकर खड़े हो जाते थे, हुक्कों को जल्दी से जमीन पर रख दिया जाता था, चिलमें फेंक दी जाती थीं, मर्द हाथ जोड़कर 'पायलागी महाराज' का नारा लगाते थे, औरतें बच्चों को गली से हाथ पकड़कर खींच लेती थीं और कभी–कभी घबराहट में उनकी पीठ पर घूँसे भी बरसाने लगतीं थीं और महाराज चारों ओर आशीर्वाद लुटाते हुए और इस बात की पड़ताल करते हुए कि पिछले चार महीनों में किसकी लड़की पहले के मुकाबले जवान दिखने लगी और कौन ससुराल से वापस आ गयी, त्रेता युग की तरह वातावरण पर सवारी गाँठते हुए निकल जाते थे।"[3]

स्पष्ट है कि सामंतवादी सोच को प्रदर्शित करते हुए भोली–भाली जनता का, लड़कियों का आसानी से शोषण करते थे। आज भी शोषण हो रहा है। सामंत–वर्ग गरीब, असहाय, अशिक्षित किसान, मजदूरों के अज्ञान, समस्या, निराशा का लाभ उठाकर हर समय उनका शोषण करता है। 'राग–दरबारी' में सामंतवाद, अशिक्षा, ओछी राजनीति, दासता, अंधविश्वास, आदि विसंगतियों पर भरपूर व्यंग्य किया गया।

अशिक्षा के कारण गाँवों में लोगों को अनेक प्रकार से धोखा दिया जाता है। लोग निरक्षर हैं वे सादे कागज पर अँगूठा लगाते हैं। वे अशिक्षा की पुरानी परम्परा को निभाने में ही अपनी शान समझते हैं। उनका कहना है– "दस्तखत कौन करता है? किसी ने हमारी सात पीढ़ी में भी दस्तखत किया है जो हम करेंगे?देख लो पाँच सौ कागज रखे हैं। हर एक में मैंने अँगूठे का निशान लगाया है।"[4]

शिक्षा प्रणाली किसी भी राष्ट्र और समाज के निर्माण का आधारभूत तत्व होती है। दुर्भाग्य से हमारी शिक्षा प्रणाली की उपेक्षा होती रही है। इसी कारण हमारी शैक्षणिक व्यवस्था अराजकता और दिशाहीनता का शिकार हो गयी है। 'राग–दरबारी' के अनुसार गाँवों में कुछ जगह शिक्षा संस्थाओं का निर्माण इसलिए हुआ है कि 'किसी स्थानीय जननायक की प्रेरणा से शिक्षा प्रचार के लिए और वास्तव में उसके लिए चुनावों की जमीन तैयार करने के उद्देश्य से विद्यालय खोले जाते थे और उनका मुख्य कार्य मास्टरों और सरकारी अनुदानों का शोषण करना था।"[5] स्पष्ट है कि शिक्षा का प्रचार–प्रसार नेताओं के फायदे के लिए होता था। समस्त शिक्षा पद्धति ही इनके लिए दोषी है। 'राग–दरबारी' में शिक्षा पद्धति पर कटाक्ष करते हुए कहा गया है– "वर्तमान शिक्षा पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है,

जिसे कोई भी लात मार सकता है।"[8]

वास्तव में लेखक का उद्देश्य समाज का स्वरूप पाठकों के सामने खोलकर रख देना है। समाज व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों से बनता है। 'राग–दरबारी' में जो समाज चित्रित है उसमें ऐसा कोई चरित्र नहीं है जो उसे बदलने के लिए प्रयत्नशील हो। फिर भी समाज के भीतर जो लोग हैं उनमें उद्वेग है, चिंता है, कुछ न कुछ हलचल है ही। 'राग–दरबारी' हमारे जनतंत्र या जनतांत्रिक प्रणाली की विसंगति को, उसके अंतर्विरोध को अभिव्यक्त करता है। इसमें चित्रित समाज का बुनियादी स्वरूप तो कायम है, लेकिन उसके अन्तर्विरोध, उसकी विसंगतियाँ, उसके विद्रूप और भी ज्यादा बढ़ गये हैं, वे और भी कुरूप हो गए हैं। यह समाज के विभिन्न तबकों या वर्गों के हितों को व्यक्त करता है। वैद्य जी, प्रिसिंपल साहब, सनीधर, रुप्पन बाबू, रामाधीन भीमखेड़बी, रंगनाथ, छोटे पहलवान, दारोगाजी, बद्री पहलवान, वकील साहब, जज साहब आदि चरित्रों के माध्यम से भारतीय समाज और उस पर शासन करने वाली राजसत्ता के चरित्र का पर्दाफाश करता है। इसमें वैद्य जी जैसे चरित्रों के व्यवहार से पूँजीवादी राजनीति की कुटिलता सामने आती है। इस राजनीतिक विसंगति पर 'राग–दरबारी' में वर्णन है–सनीधर केवल इसलिए गाँव सभा के अध्यक्ष पद के लिए चुनाव में खड़ा हो पाया है क्योंकि वह वैद्य जी की हर तरह सेवा करता है। यहाँ तक कि उसे भाँग पीसने का विशेष अनुभव है। विसंगति तो यहाँ भी है कि वह स्वयं जानता है कि वह इस पद के लिए न योग्य है और न लायक। इस पर वैद्य जी सनीचर से कहते हैं– "लायक–नालायक की बात नहीं है सनीचर। हम मानते हैं कि तुम नालायक हो, पर उससे क्या?प्रधान तुम थोड़े ही बन रहे हो? वह तो तुम्हें जनता बना रही है। जनता जो चाहेगी, वह करेगी। तुम कौन हो बोलने वाले?"[7]

लोकतांत्रिक मूल्यों की पहली सीढ़ी मताधिकार है किन्तु साधारण ग्रामवासी अपने मत का मूल्य भी नहीं जानता है जबकि हमारा लोकतंत्र इसी पर टिका हुआ है। चतुर राजनेताओं ने लोगों की मताधिकार के प्रति उदासीनता तथा वोट की कीमत न पहचानने का हमेशा फायदा उठाया है। 'राग–दरबारी' में इस पर उदाहरण दृष्टव्य है–"कहना क्या है? दूसरे ने जबाव दिया जब वैद्य जी वोट की भीख मांग रहे हैं तो मना कौन कर सकता है। हमें कौन वोट का अचार डालना है? ले जायें, वैद्य जी ही ले जायें।" पहले इक्के वाले ने भी उत्साह से कहा– "वोट साला कौन छप्पन टके की चीज है। कोई भी ले जाय।"[8]

राजनीति और मताधिकार की ही भाँति न्याय–व्यवस्था पर भी भरपूर व्यंग्य किया गया है। न्याय शान्ति का प्रथम न्याय है और आम आदमी की प्रथम आवयकता भी है किन्तु वर्तमान स्थितियों में यह सिर्फ कल्पना ही प्रतीत होता है इस पर लिखा गया है– "हाईकोर्ट, सुप्रीमकोर्ट की शौकीनी सबके बूते की बात है? एक–एक वकील करने में सौ–सौ रण्डी पालने का खर्च है।"[9]

'राग–दरबारी' में धर्म की सत्ता पर तीखा एवं यथार्थपरक व्यंग्य किया गया है। वर्तमान में हम धार्मिक अंधविश्वास से बंधे हुए हैं। अवैज्ञानिक, अतार्किक आस्था जड़ता को जन्म देती है। इसमें जनमानस के भीतर जड़ जमाए भय और उसका लाभ उठाने वाले 'चतुर' लोगों पर व्यंग्य किया गया है। शिवपालगंज से एक दूसरी जगह जाते हुए रास्ते में खड़ी कांस में रंगनाथ गांठ लगा देता है। लौटते में जब सनीचर और अन्य लोग उससे इसका कारण पूछते हैं तो वह इसका सम्बन्ध हनुमान जी से जोड़ देता है और लोग धर्म के नाम पर आँखे मूंदकर सारे रास्ते को साफ कर देते हैं।

समाज में स्वार्थपरता, परस्पर संदेह और ईर्ष्या की भावना बढ़ती जा रही है। संबंधों की परस्परता का आधार विश्वास निरंतर खण्डित होता जा रहा है। दूसरे की प्रगति को देखकर व्यक्ति बेचैन हो उठता है। इस ईर्ष्या प्रवृत्ति पर 'राग–दरबारी' व्यंग्य करता है– "वह बैठता अपने खेत की मेंड पर है, जानवर दूसरे के खेत में चराता है। गन्ना चूसना हो तो अपने खेत को छोड़कर बगल के खेत से तोड़ता है और दूसरों से कहता है मेरे खेत में चोरी हो रही है। वह गलत नहीं कहता क्योंकि जिस तरह उसके खेत के बगल में दूसरे का खेत है उसी तरह और के खेत की बगल में उसका खेत है।"[10] एक ओर तो व्यक्ति नैतिकता की दुहाई देता है। आचरण की शुचिता की बात करता है दूसरी ओर इसके विपरीत आचरण करता है। कथनी करनी का भेद उसे हास्यस्पद बना देता है। नैतिकता को मानदंड बदल गए है। स्वार्थपरता के कारण नैतिकता के मानदण्डों का बदलना राग–दरबारी में इस प्रकार चित्रित किया गया है– "एक ने कहा मेरी माँ ने खसम किया तो वे बोले कि बहुत बुरा किया। फिर उसकने कहा खसम करके छोड़ दिया तो वे बोले और बुरा किया।"[11] सामाजिक विकृतियों का प्रभाव हमारे सामाजिक संबंधों पर पड़ता है। स्वार्थपरता और अहं की टकराहटों ने सामाजिक सम्बन्धों की नवीन व्याख्या ही नहीं की वरन् संबंधों के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिन्ह लगा दिए हैं। अब माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहन, मित्र–सखा, आदि हमारे संबंध स्वार्थ की कसौटी पर कसे जाने लगे हैं। पिता–पुत्र के बीच किसी नियंत्रण या अनुशासन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गयी है। शर्म–लिहाज से परे ये किसी भी सीमा तक जा सकते हैं। इस पर 'राग–दरबारी' में व्यंग्य देखिए– "इन्हें कौन मारेगा?ये पहलवान के बाप हैं। उसे छोड़कर किस साले में दम है कि इनको हाथ लगा दें।"[12] राग–दरबारी में श्रीलाल शुक्ल ने समाज के प्रत्येक पहलू को उठाया है। वे हर छोटी से छोटी घटना का बारीकी से मुआयना करते हैं। नारी के शृंगार, आभूषण प्रेम व फैशनपरस्ती पर व्यंग्य करते हुए वे लिखते हैं– "लड़कियाँ फैशन की पीछे दीवानगी की हद तक चली जाती हैं, ये लड़कियाँ फैशनेबुल थी। पता नहीं क्यों रोज खरीदते रहने पर भी उन्हें कपड़ों की हमेशा कमी बनी रहती थी।"[13]

राग–दरबारी दरअसल भारतीय देहान के बहाने पूरे देश की असलियत सामने लाता है। चाहे किसी भी गांव में चले जाइए, सबकी विसंगतियाँ एक जैसी हैं। हर गांव में वैद्य जी, सनीचर, बद्री और प्रिंसिपल बसे हुए हैं। लंगड जैसी ईमानदारी की छोटी–छोटी लड़ाइयाँ हर जगह लड़ी जा रही हैं। स्वार्थपरता के लिए किसी की हद तक जाकर प्रिंसिपल का यह कहना– "मेरी एक जवान बहन है, उसकी शादी करनी है, आज वैद्य जी कान पकड़कर निकाल दें तो ठौर नहीं मिलेगा।"[14] यह विद्रुप महज व्यंग्य नहीं है। राग–दरबारी उन अज्ञात कोनों तक ले जाता है जहाँ व्यंग्य की गुंजाइश नज़र नहीं आती। समाज की हर विसंगति को कैमरे की नज़र से देखता है और उस पर व्यंग्य करता है। धर्म, आडम्बर, द्वेष, झूठ, आदि भावनात्मक पहलुओं को उजागर करता है। परोपकार के संबंध में राग दरबारी में व्यंग्यात्मक अवधारणा दी गयी है– "परोपकार एक व्यक्तिवादी धर्म है और उसके बारे में हर व्यक्ति की अपनी–अपनी धारण होती है। कोई चींटियों को आटा खिलाता है, कोई किसी को

प्रस्तुत किया है। कवि नदी के कूलों और आकाश के चन्द्र की ज्योति स्मिति में लालसा का अनुसंधान करते हुए जीवन की नियति को स्वीकार करना चाहता है –

"चाहते गति रोकना जब बाँह भर–भर कूल,
इन्दु हँसता वीचियों पर ज्योति सस्मित फूल!
मंद मरमर गीत गाती नियति गति मझधार,
मुझे कोई बुलाता ज्यों बार–बार पुकार!
'कामिनी! मैं आ रहा हूँ दूर कोसो दूर
बहाए ले जा रहा मुझको नियति गति पुर।

निष्कर्षतः कवि नरेन्द्र शर्मा ने नारी जीवन के महत्वपूर्ण पक्षों को नवीन शैली में अपनी कविता में शब्दबद्ध करने का प्रयास किया है। जो विवेचनीय है।

सन्दर्भ–

1. शूल–फूल – नरेन्द्र शर्मा
2. कामिनी – नरेन्द्र शर्मा
3. नरेन्द्र शर्मा – हरिमोहन शर्मा
4. उर्वशी – रामधारी सिंह, 'दिनकर'
5. कामायनी – जयशंकर प्रसाद
6. उत्तरछायावाद और रामगोपाल शर्मा 'रूद्र' – डॉ0 नंद किशोर नवल
7. आधुनिक कवि नरेन्द्र शर्मा – नरेन्द्र शर्मा

*शोधार्थी, ल.ना.मि.वि.
दरभंगा

समाज में नारी का योगदान

शैलेश यादव*

विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के निर्माण में नारी का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। प्राचीन काल से ही समाज में नारी का स्थान आदर्शात्मक और मर्यादायुक्त था। धर्मशास्त्रों में भी नारी को सर्वशक्ति–सम्पन्न माना गया है तथा विद्या, शील, ममता, यश और सम्पत्ति की प्रतीक समझी जाती है। गृह की सामग्री के रूप में प्रतिष्ठापित और गृह के अन्य सदस्यों को उसके शासन के अन्तर्गत रहने के लिए निर्देशित किया गया है।[1]

नारी को कभी पुरुष के समकक्ष तो कभी निम्न श्रेणी में रखा गया है, उसके जीवन मूल्यों को बुद्ध–युग में पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास भगवान गौतम बुद्ध द्वारा किया गया है। बौद्ध साहित्य द्वारा हम नारी के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त कर सकते हैं, समाज में नारी के पारिवारिक जीवन का जो रूप हमारे समक्ष आता है वह उत्तरवैदिक काल जैसा ही था। बौद्ध युग में परिवार का जो स्वरूप दिखाइ देता है उसे हम संयुक्त परिवार कह सकते हैं।[2] जिसके अन्तर्गत अनेक सदस्य होते हैं। नारी परिवार में ही रहकर पशुओं का भरण–पोषण भी अपने पुत्र के समतुल्य ही करती है। परिवार में आये हुए अतिथियों का आदर–सत्कार और उनका चरण आदि धोती है।[3] इससे परिवार की महत्ता एवं श्रेष्ठता झलकती है।

बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय स्त्रियाँ प्रायः शिक्षित और विद्वान हुआ करती थी। विद्या, धर्म दर्शन के प्रति उनकी अगाध रूचि थी, शिक्षिकाओं के रूप में नारी को ख्याति प्राप्त थी, थेरीगाथा की कवियात्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी और 18 विवाहित भिक्षुणियां भी, जिसमें शुभा, सुमेधा और अनोपमा उच्च वंश की कन्याएँ थी, जिनसे विवाह करने के लिए राजकुमार और संपत्तिशील सेठों के पुत्र उत्सुक रहते थे।

भिक्षुणी खेमा बुद्ध के युग की उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री थी, जिसकी विद्वता की ख्याति दूर–दूर तक फैली थी, संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि सुभद्रा नामक भिक्षुणी व्याख्यान देने में प्रसिद्ध थी।[4]

चुल्लकालिंग जातक में एक प्रसंग आया है कि वैशाली में पांच सौ वादों में पण्डित, निर्गन्थ एवं दूसरी तरफ एक विदुषी निर्गन्थ भी आई थी, राजाओं ने दोनों का शास्त्रार्थ कराया, दोनों बराबर रहे, तब लिच्छवि राजा ने विचार किया कि इन दोनों से उत्पन्न सन्तान मेधावी होगी, इन दोनों का विवाह कराकर एक स्थान बसा दिया जाये। माता–पिता ने पुत्रियों को यह शिक्षा दी कि यदि कोई गृहस्थ शास्त्रार्थ में हरा दे तो उसकी चरण दासी बन जाना और यदि कोई प्रव्रजित हरा दे तो उसके समक्ष प्रव्रजित हो जाना। माता–पिता के पश्चात् बहनों ने जैन शाखा के शास्त्रार्थ के लिए नगर–नगर में घूमना प्रारम्भ किया इस प्रकार अन्त में वे एक प्रव्रजित से पराजित हुई और उसकी प्रव्रजिकाएं बन गई।[5]

इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि उस समय स्त्रियां भी शास्त्रीय संवाद करती थी, उनकी शिक्षा–दीक्षा माता–पिता के संरक्षण में ही होती थी।

इस शिक्षा के अतिरिक्त नारी को धार्मिक शिक्षाभी विशेष रूप से दी जाती थी। उन्हें धार्मिक कार्य करने के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं था। प्रद्युम्न की पुत्री कोकनदा भगवान् बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होकर कहती–

"मैंने यह अर्थवती गाथा कही यद्यपि
ऐसे महान धर्म के विषय में,
संक्षेप में मैं उसके सार को कहती है। तथापि
जहाँ तक मेरी बुद्धि की योग्यता है
सारे संसार में कुछ भी पाप न करे
अनर्थ करने वाले दुःख को न बढ़ाये"

इस प्रकार इससे स्पष्ट होता है कि स्त्रियां धर्म के सम्बन्ध में अत्यधिक ज्ञान रखती थी। धर्म के विषय में बौद्ध धर्म ने भिक्षुओं के लिए जहाँ ब्रह्मचर्य सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध थे, वहीं संघ में स्त्रियों को भी प्रव्रज्या लेने की अनुमति प्रदान की गयी थी।

वैशाली में अनेक स्त्रियाँ केश काटकर, काषाय वस्त्र धारण कर, महाप्रजापति गौतमी के साथ फूले पैरो तथा धूल भरे शरीर से रोती हुई, महावन की कूटागार–शाला के समझ खड़ी हुई, इस तरह आनन्द ने देखकर तथागत से उनके लिए प्रव्रज्या की अनुमति माँगी और अन्ततोगत्वा तथागत ने उन्हें संघ में प्रवेश होने की अनुमति दे दी।[6]

तथागत ने संघ में प्रविष्ट होने के लिए आज्ञा तथा महाप्रजापति के लिए अनुमति लेना यह सिद्ध करता है कि बुद्ध के समय में नारी धार्मिक कार्यो में अत्यधिक रूचि लेती थी।

भगवान् बुद्ध उस गृहस्थ को अत्यधिक महत्व देते हैं जो अपनी परिवार में अच्छी तरह से स्त्रियों का पालन–पोषण करते हैं, मातलि संग्राहक और देवेन्द्र शक्र के आपसी संवाद में यह प्रसंग आया है– "जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते है, जो पुण्यात्मा गृहस्थ है, ऐसे शीलवान् उपासक लोग धर्म से अपनी स्त्री का पालन करते हैं। हे मातलि मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ"। मातलि– वे बड़े महान् है शक्रः जिन्हें आप नमस्कार करते हैं।[7]

समाज का उत्थान तभी हो सकता है जब पुरूष वर्ग अपने उत्थान के साथ–साथ नारी के उत्थान पर भी ध्यान दे। नारी की गणना सप्त रत्नों में हुई है यथा– (1) चक्ररत्न, (2) अश्वरत्न (3) हस्तिरत्न (4) स्त्रीरत्न, (5) गृहपतिरत्न, (6) परियाणरत्न (7) मणिरत्न[8], इन रत्नों का उल्लेख हो जाने से इनकी महत्ता अत्यधिक बढ़ गई और समाज में इनका स्थान ऊँचा हो जाता है।

इस प्रकार इन सभी तथ्यों से स्पष्ट होता है कि बुद्ध के समय नारी हर तरह से पूर्ण स्वतन्त्र थी और उन्हें समाज में उच्च और प्रतिष्ठा पूर्ण स्थान प्राप्त था चाहे वह परिवार में हो या शिक्षा के क्षेत्र में हो, सभी क्षेत्र में वह पूर्ण स्वतन्त्र थी।

सन्दर्भ–

1. अथर्ववेद, 14.44
2. जातक भाग–2, ट. 321–24, जातक भाग–3, पृ0 150–80
3. जातक भाग–3, पृ ट दृ 18, 29—30
4. विमेन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय, हॉर्नर
5. जातक, पृ0 301
6. जातक भाग–2, पृ0 172–73
7. संयुक्त निकाय, पृ0 29
8. विनयपिटक, पृ0 519–20, भिक्षुणी स्कन्धक
9. संयुक्त निकाय भाग–1, पृ0 185
10. सुत्तनिपात, 2/183

*शोध छात्र, इतिहास विभाग
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

तुलनात्मक अध्ययन का स्वरूप

चन्द्रशेखर सिंह

तुलनात्मक शब्द अंग्रेजी के Compare का हिन्दी अनुवाद है। Comparative शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है **"Compare to bring together or side by side in order to note points of differences and more especially likeness to note and express the resemblance between."** साथ–साथ लाना या अन्त बिन्दुओं को एक दूसरे के समक्ष रखना अथवा दो बिन्दुओं के बीच समानता को चिन्हित या अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति को तुलना कहा जाता है। यदि इस अर्थ में तुलनात्मक अध्ययन को लिया जाये तो उसका स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है, किंतु इसके स्वरूप को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न समय एवं स्थानों में अलग–अलग व्याख्यायित किया है।

तुलनात्मक अध्ययन ही आज तुलनात्मक अनुसंधान का रूप ले चुका है। यदि अर्थतत्व की दृष्टि से देखा जाये तो तीन शब्द हैं – तुलना, अध्ययन व अनुसंधान। अध्ययन व अनुसंधान के बीच एक हलकी–सी विभाजन रेखा है। अध्ययन जहाँ समाप्त होता है वहाँ से अनुसंधान आरम्भ होता है। आरंभ में अध्ययन के ऊपर पर्याप्त विचार किया गया तथा अनेक विद्वानों की राय पुस्तकों के रूप में सामने आयी। किंतु उनका ध्यान अनुसंधान एवं शोध की तरफ बहुत बाद में बढ़ा। डॉ. देवराज उपाध्याय कहते हैं – "विज्ञान का साथ देता हुआ शोध या अनुसंधान शब्द वैज्ञानिक प्रक्रिया को हमारे मानस पटल पर ला देता है। यदि हम तुलना शब्द की व्यावहारिक व्याख्या करें तो पहले हम दो व्यक्ति, दो ग्रंथ या दो युगीन प्रवृत्तियों के कुछ Items तय कर उन्हीं के आधार पर साम्य–वैषम्य व तारतम्य निश्चित कर लेते हैं। कभी–कभी दो तुल्यमान में से एक की अपेक्षा दूसरा प्रधान हो जाता है। यद्यपि वैज्ञानिकता सर्वथा आग्रहों के त्याग पर बल देती है।"

बसंत बापट ने भी 'तुलना' शब्द की व्याख्या डॉ. देवराज उपाध्याय से मिलती–जुलती ही की है – "तुलना या संज्ञेचे अधिक स्पष्टीकरण करावयाचे झाल्यास, साधर्म्य आणि वैधर्म्य, उद्‌गम अणि प्रभाव या चार अंगानी घेतलेला शोध असे करता येयीला ही चार नेहमीच महत्वाची असतील किंवा साख्याच महत्वाची असतील असे नव्हे। किब हुआ उपयोजित, तौलनिक साहित्याभ्यासात या चार पैकी कोणतेतरी एक च अंग सहसा बलवत्तर असते।" डॉ. मनोरमा शर्मा कहती हैं, "प्रकृति का यह नियम है कि कोई भी दो वस्तुएँ ठीक एक ही प्रकार की नहीं हो सकतीं। कुछ न कुछ अन्तर तो अवश्य ही होगा। इस प्रकार कोई भी दो वस्तुएँ एकदम इतनी भिन्न भी नहीं होती कि उनमें कोई न कोई समानता न मिल सके।"

शब्दकोश में अनुसंधान का शाब्दिक अर्थ खोजा जाये तो होगा – अन्वेषण, Investigation, Search या Research। इसका अर्थ होगा पाश्चाद्‌गमन, पीछे लगना, खोज, अन्वेषण, ढूँढ़, जाँच–पडताल, तलाश, तहकीकात, चेष्टा, प्रयत्न, कोशिश, योजना, खाका।

अनुसंधान का कार्य सत्य की खोज और स्थापना है। इस अनुष्ठान की सिद्धि की चार प्रणालियाँ हैं : विकासक्रम, व्याख्या, तुलना और वर्गीकरण। डॉ. विजयपाल सिंह इनमें से वर्गीकरण को शुद्ध प्रक्रिया मानते हैं। वे कहते हैं, "यह अनिवार्य होते हुए भी संकल्प के रूप में शीर्षक का आधार नहीं बन सकती। शेष तीनों अनुसंधान की प्रक्रियाएँ भी हैं और तत्व भी। इसके आधार पर शीर्षक बनते हैं, जैसे अमुक का उद्‌भव और विकास, अमुक की विश्लेषणात्मक व्याख्या, अमुक का तुलनात्मक अध्ययन।" वे और आगे कहते हैं, "तुलना जहाँ प्रक्रिया के रूप में प्रत्येक शोध कार्य में अनुस्यूत रहती है, वहाँ वह शोधार्थी का संकल्प बनती है। जब वह संकल्प बनती है तो तुलनात्मक अध्ययन शोध की स्थिति पाता है।"

तुलना के लिए तुलना काम्य नहीं, तुलना साध्य नहीं। वह तो दो साहित्यों, दो साहित्यकारों या दो विधाओं को जानने का साधन है, जिससे उसकी विशिष्टता उजागर हो सके। साहित्यिक अनुसंधान की अनेक पद्धतियों–आलोचनात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, भाषा वैज्ञानिक पद्धति, समस्यामूलक पद्धति के समान ही तुलनात्मक पद्धति भी एक है, जो दूसरे साहित्यों से एकदम अलग न होकर भी कुछ कारणों से उनसे अलग है। शायद इसी को ध्यान में रखकर 'मेक्समूलर' ने कहा था, "All higher Knowledge is gained by comparison and reset on comparison." तुलनात्मक अध्ययन के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है। 'तुलनात्मक साहित्य' साहित्य के समग्र रूप का अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करता है, जिसके मूल में यह भावना निहित रहती है कि साहित्यिक सृजन और आस्वादन की चेतना जातीय एवं राजनैतिक, भौगोलिक सीमाओं से मुक्त एक रस और अखंड होती है। रेनेवेलेक.

'तुलनात्मक साहित्य' एक राष्ट्र के साहित्य की परिधि के परे दूसरे राष्ट्रों के साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन है। –हेनरी एच.एच.रेमाक.

'तुलना और विश्लेषण आलोचक के प्रमुख औजार हैं जो मूल्यांकनपरक आलोचना की श्रेष्ठता को मापने के लिए तुलनात्मक पद्धति का लाभ उठाती है।' –टी.एस. इलियट.

उल्लिखित पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को देखा जाये तो 'रेनेवेलेक' ने तुलनात्मक साहित्य के अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य पर अधिक जोर दिया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में साहित्य में विद्यमान रस एक होता है जो अखंड होने के साथ काल व सीमा के बंधन से मुक्त होता है। रेमाक साहित्य के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानते हुए कहते हैं, एक राष्ट्र की परिधि से परे दूसरे राष्ट्र के साहित्य के साथ किया गया अध्ययन जो कला, इतिहास, समाजविज्ञान, विज्ञान, धर्मशास्त्र आदि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में आपसी संबंधों का अध्ययन करता है। पासनेट महोदय तुलनात्मक साहित्य के समग्र रूप को व्याख्यायित न करके यह स्पष्ट करना आवश्यक मानते हैं कि एक साहित्यिक विकास में उनके सिद्धान्तों का योगदान अवश्य होता है, यह सिद्धान्त ही तुलनात्मक साहित्य के अंग हैं। इलियट महोदय तुलना एवं विश्लेषण को आलोचक के प्रमुख औजार के रूप में विश्लेषित करते हैं जिनके द्वारा आलोचक साहित्य का मूल्यांकन करता है अर्थात् वे सभी साधन, नियम जिनके द्वारा साहित्य को व्याख्यायित–मूल्यांकित किया जाता है वे सभी तुलनात्मक साहित्य के अंग हैं।

'तुलनात्मक साहित्य साहित्यिक वैदुष्य और साहित्य समीक्षा का ही एक पक्ष है और उसकी सर्वोत्तम उपलब्धियाँ

साहित्य के बोध और आस्वाद में हमारी सहायक ही होंगी।' –रवीन्द्र कुमार दासगुप्ता.

'तुलनात्मक साहित्य वास्तव में एक प्रकार का अन्तःसाहित्यिक अध्ययन है, जो अनेक भाषाओं के साहित्य को आधार मानकर चलता है और जिसका उद्देश्य होता है, अनेकता में एकता का संधान।' –डॉ. नगेन्द्र.

'हम समझते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन के प्रति तुलनात्मक दृष्टिकोण वर्तमान अनुशासनों को उखाड़ फेंकना नहीं चाहता, बल्कि उन्हें संतुष्ट करना चाहता है और इस प्रक्रिया में उन कमियों को ठीक करना चाहता है जो पूरी कोशिश के बावजूद रह गयी हो।' – नरेश गुहा.

'तुलनात्मक साहित्य अध्ययन का तात्पर्य है एक की अपेक्षा अधिक साहित्यों का तुलना की सहायता से किया गया अध्ययन।' –बसंत बापट.

'तुलनात्मक साहित्य का अपना कोई साहित्यिक सिद्धान्त नहीं है ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जो एकल साहित्यों से नितान्त भिन्न हो किंतु यह भी सत्य है कि तुलनात्मक साहित्य की एक निजी पद्धति है।' –अमितदेव.

'तुलनात्मक अध्यन एक उलझा हुआ विवादास्पद क्षेत्र है, इनके विविध लक्ष्यों को अच्छी तरह परिभाषित नहीं किया गया है, जिस कारण वे एक दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं।' –रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव.

'वाह्य रूप का आंतरिक रूपों से, विधा का रूप विधान से, साहित्य का अधि साहित्य से जो संबंध है वही संबंध विविधता का एकता के साथ है। विधा के क्षेत्र में तुलनात्मक साहित्य का अध्येता मूल विधाओं के विभिन्न भेदों – उपभेदों के प्रति भी जागरूक रहता है और वह विविधता तथा एकता को ऐसी पूरक शक्तियों के रूप में देखता है जो एक ही लक्ष्य की ओर प्रगतिशील है।' –हरभजन सिंह.

'तुलनात्मक साहित्य की सर्वमान्य स्थूल परिभाषा यही हो सकती है कि यह साहित्यिक समस्याओं का अध्ययन है, जहाँ एक से अधिक भाषाओं के साहित्य का उपयोग किया जाता है।' –इन्द्रनाथ चौधरी.

'तुलनात्मक साहित्य; साहित्य का वह अध्ययन है, जो एक से अधिक साहित्य का अध्ययन एक साथ करता है। यह अध्ययन विशुद्ध ऐतिहासिक या विशुद्ध सौंदर्य बोधात्मक हो सकता है अथवा अंशतः ऐतिहासिक और अंशतः सौंदर्य–बोधात्मक भी हो सकता है।' –डॉ.विजेन्द्र नारायण सिंह.

'तुलनात्मक अध्ययन में साम्य–वैषम्य की खोज कुल साहित्य कृतियों, साहित्य प्रवृत्तियों, लेखकीय सामर्थ्यों, वैकल्पिकों का संकेत करने के लिए प्रयोजनीय हैं।' –डॉ. नन्दकिशोर नवल.

'तुलनात्मक अनुसंधान–राष्ट्रीय भावना की पहचान में सहायक है और इससे राष्ट्र की संकल्पना दृढ़ होती है।' –डॉ. राजकमल बोरा.

भारतीय विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं को विश्लेषित किया जाये तो दासगुप्ता तुलनात्मक अध्ययन को साहित्यिक विद्वता के साथ जोड़ते हैं, जिसके द्वारा वह एक दूसरे के साहित्य को जानने के साथ उसमें विद्यमान रस को हमारे सामने रखता है। डॉ. नगेन्द्र तुलनात्मक साहित्य को अन्तः साहित्यिक अध्ययन मानते हैं जिसका आधार एक से अधिक भाषाओं में रचित साहित्य होता है। यहाँ नगेन्द्र जी रेमाक द्वारा दी गयी परिभाषा "तुलनात्मक साहित्य एक राष्ट्र के साहित्य की परिधि के परे दूसरे राष्ट्रों के साहित्य के साथ तुलनात्मक अध्ययन है" से अलग यह मानते हैं कि एक भाषा की रचना का दूसरी भाषा की रचना के साथ किया गया अध्ययन तुलनात्मक अध्ययन की परिधि में आता है जैसे हिन्दी साहित्य या हिन्दी के किसी रचनाकार का बांग्ला या किसी अन्य भारतीय भाषाओं के साथ किया गया अध्ययन। यहाँ वे यह भी स्पष्ट करते हैं "किसी एक भाषा की समान–असमान प्रवृत्तियों का विश्लेषण 'तुलनात्मक समीक्षा' का एक रूप हो सकता है, किंतु उसे तुलनात्मक साहित्य नहीं कहा जा सकता।" क्योंकि वे मानते हैं कि "किसी वस्तु का स्वरूप इसी आधार पर निर्धारित होता है कि अपने इतिहास क्रम में उसका स्वरूप क्या रहा है। वह नये कार्यभार तो ग्रहण कर सकती है, किंतु उस तथ्य का परित्याग नहीं कर सकती, जिसके कारण वह मूल्यवान रही है।"

नरेश गुहा मानते हैं – तुलनात्मक अध्ययन जहाँ नये–पुराने अनुशासनों को एक साथ लेकर चलता है, वहीं वह उन कमियों को स्पष्ट करता है, जो साहित्य के अन्तर्गत छूट गया होता है अर्थात् तुलनात्मक अध्ययन द्वारा हम साहित्य की उन कमियों को दूर करते है जो साहित्य के स्तर को ऊपर उठा सकें। बापट जी द्वारा दी गयी परिभाषा देखने में आसान लगती है – 'एक की अपेक्षा अधिक साहित्यों का तुलना की सहायता से किया गया अध्ययन' किंतु वे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'एक की अपेक्षा अधिक' इस कथन का क्या तात्पर्य है?इस प्रश्न का उत्तर जितना सरल प्रतीत होता है उतना है नहीं। एक साहित्य से दूसरे साहित्य को कैसे भिन्न किया जा सकता है? इसका प्रथम उत्तर जो ध्यान में आता है, उसका आधार है भाषागत भिन्नता ... परन्तु भाषिक एकता के कारण इस साहित्य को एक ही नहीं माना जा सकता। वे उदाहरण के रूप में आस्ट्रिया, जर्मनी व स्विस साहित्य को लेते हैं क्योंकि तीनों देशों में जर्मन भाषा में साहित्य रचना होती है, किंतु एक दूसरे से भिन्न है, जिसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि भाषा एक रहती है तथापि राष्ट्रीय गुण धर्मों की विशिष्टताओं के कारण विभिन्न राष्ट्रों के साहित्य को हम भिन्न–भिन्न स्वीकारते हैं।"

अमित देव तुलनात्मक साहित्य को एक सिद्धान्त न मानकर एक पद्धति मानते हैं जिसके आधार पर एक साहित्य की दूसरे साहित्य से तुलना कर उसकी विशिष्टताओं को सामने लाया जाता है। रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव तुलनात्मक अध्ययन को उलझा हुआ विवादास्पद क्षेत्र मानने के साथ यह भी मानते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन में क्षेत्र–विस्तार का कोई बन्धन नहीं होता जिसके कारण इसके अन्तर्गत इतने विषय आ जाते हैं कि पाठकों का किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाना स्वाभाविक हो जाता है। वे तुलनात्मक साहित्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं – "तुलनात्मक साहित्य की यह प्राविधिक पूर्वपेक्षा है कि साहित्यिक चीजों को एक संश्लिष्ट एवं संपूर्ण इकाई के साथ–साथ कुछ विशिष्ट लक्षणों वाली ईकाई के रूप में देखा जाए।"

इन्द्रनाथ चौधरी तुलनात्मक अध्ययन को साहित्यिक समस्याओं का अध्ययन मानते हैं जिसके द्वारा एक से अधिक साहित्य का उपयोग अर्थात् उनका अध्ययन किया जाता है। वे इसके आगे यह भी मानते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन विभिन्न साहित्यों के साथ ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों का भी तुलनात्मक अध्ययन करता है। डॉ. विजेन्द्र नारायण तुलनात्मक साहित्य को पूर्णतः तथ्यात्मक या साहित्यिक अथवा अंशतः तथ्यात्मक या साहित्यिक या दोनों का मिला–जुला रूप मानते हैं। डॉ. राजकमल बोरा तुलनात्मक अध्ययन को राष्ट्रीय पहचान में सहायक मानते हुए

यह मानते हैं कि तुलनात्मक अध्ययन बहुआयामी होता है जिसके माध्यम से दृष्टिकोण में विस्तार आता है तथा संकुचित मनोवृत्ति से मुक्ति मिलती है जिस कारण हम अपने साथ औरों के महत्व को स्वीकारने के साथ हम उनके साथ रागात्मक, साहित्यिक सम्बन्ध बनाते हैं।

किसी भी भाषा के साहित्य का निर्माण अन्य भाषाओं के साहित्यों से अलगाव की अवस्था में नहीं होता है, बल्कि उसका विकास एक दूसरे का मिला–जुला रूप होता है। यदि तुलनात्मक साहित्य के आशय को स्पष्ट किया जाये तो 'तुलनात्मक साहित्य' केवल साहित्य की साम्य–वैषम्य प्रकट करने के विचार से उनकी तुलना मात्र नहीं है। इसका मुख्य आशय है साहित्य–विशेष को पृष्ठभूमि प्रदान करने वाली सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के संधान द्वारा अपने परिप्रेक्ष्य को व्यापक बनाना एवं साहित्य तथा मानवीय क्रिया–कलाप के और सभी क्षेत्रों के पारस्परिक सम्बन्ध को जानना।

इन विद्वानों द्वारा तुलनात्मक अध्ययन को परिभाषित करने से स्पष्ट है कि साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन किसी एक साहित्य से इस बात से अलग होता है कि यहाँ एक साथ एक से अधिक साहित्य का अध्ययन करने के बाद उनको एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित किया जाता है। बच्चन सिंह के शब्दों में, "तुलनात्मक साहित्य वह अध्ययन है, जिसमें दो या दो से अधिक भाषाओं के साहित्य के पारस्परिक, सादृश्य, विसादृश्य, प्रभाव, एकता, आदान–प्रदान आदि का विश्लेषण किया जाता है।"

तुलनात्मक अध्ययन के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन के तीनों क्षेत्रों 'अमरीकी स्कूल', 'पेरिस–जर्मन स्कूल' तथा 'रूसी स्कूल' के साथ भारतीय विश्वविद्यालयों में तुलनात्मक अध्ययन के स्वरूप एवं स्थिति को देखना आवश्यक है।

अमरीकी स्कूल : अमेरीकी स्कूल के विद्वानों द्वारा साहित्य के अन्तर्गत ज्ञान के विविध क्षेत्रों के बीच साहित्य के संबंधों को स्वीकार करने के साथ–साथ ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों के साथ साहित्य के संबंध का अध्ययन किया जाता है। दूसरी ओर साहित्यालोचन को 'तुलनात्मक अध्ययन' के महत्त्वपूर्ण अंक के रूप में स्वीकारा गया। 1886 ई. में एच.एस. ने अपनी पुस्तक 'कम्परेटिव लिटरेचर' के द्वारा यह बताया कि तुलना करना समीक्षक का परंपरागत कार्य रहा है तथा 1910 ई. में एक प्रमुख तुलनाशास्त्री एफ. डब्ल्यू. चैडलर ने सिनसिन्नाट विश्वविद्यालय में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर पद पर नियुक्त होते ही तुलनात्मक साहित्य का पूर्ववृत्त प्रस्तुत किया। जो तुलनात्मक साहित्य के इतिहास में मील का पत्थर साबित हुआ।

किंतु अमरीकी तुलनात्मक साहित्य के स्वरूप निर्धारण में इन्हीं दो विद्वानों का हाथ नहीं रहा। 'रेनेवेलेक', 'हेरी लेविन' एवं 'डेविड मेलोन' जैसे विद्वानों द्वारा समानताओं, मूल अभिप्रायों, शैलीगत तत्वों, काव्य विधाओं, आंदोलनों और परंपराओं के तुलनात्मक अन्वेषण को प्रोत्साहन देकर इसके अन्तर्गत साहित्यिक रचना के कलात्मक वैशिष्ट्य को उद्घाटित करने जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया। किंतु इनके लिए कृतियों, आंदोलनों तथा मोटिफों के उत्पत्तिमूलक सम्पर्कों का कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि डोनाल्डकीन द्वारा प्राच्य तथा पाश्चात्य साहित्य में पाये जाने वाले 'हिप्पोलिटस ट्रैयंगल' को विश्लेषित करते हुए, यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं रही कि इस विषयवस्तु की पश्चिम से पूर्व की ओर यात्रा अथवा पूर्व से पश्चिम ओर यात्रा के बारे में कोई तथ्य उपलब्ध नहीं है।

'रेनेवेलेक' के वक्तव्यों को देखा जाये तो उनका कहना है – "साहित्य के इतिहास के लिए तथ्यों का चयन भी अपने आप में एक आलोचनात्मक क्रिया है। वह मूल्यपरक भी है।" 1908 ई. में 'रिचगार्न' ने 'इंगलिश क्रिटिकल एसेज ऑफ द सेवेंटीथ सेंचुरी' एवं 'रेनेवेलेक' ने 'माडर्न क्रिटिसिज्म' में तुलनात्मक अध्ययन' की सामग्री प्रस्तुत की, जो इस क्षेत्र में काफी सराहा गया तथा साथ ही राबर्ट लोथ का परम उपादेय ग्रंथ 'यूरोपियन लिटरेचर एण्ड द लेटिन मिडिल एजेज' भी 'तुलनात्मक साहित्य' के क्षेत्र में विवादों से घिरे रहने के साथ लोकप्रिय हुआ। अमरीकी विश्वविद्यालयों में एक विषय के रूप में 'तुलनात्मक साहित्य' का आरम्भ बीसवीं सदी से आरम्भ हुआ तथा सर्वप्रथम 'कारनेल विश्वविद्यालय' में इसके लिए स्वतंत्र विभाग की स्थापना हुई। किंतु प्रो. लेन कुपर ने इस नाम को नहीं स्वीकारा जो उस समय 'कारनेल विश्वविद्यालय' के विभागाध्यक्ष थे। अन्य अमरीकी विश्वविद्यालय जिन्होंने इसमें तत्परता दिखायी वे थे हार्वर्ड, येल, प्रिंसटन, शिकागो, बोस्टन एवं फिलाडेलफिया विश्वविद्यालय तथा इनके साथ इंग्लैण्ड के 'ड्राइडेन' व 'डॉ. जानसन' ने भी 'बहुभाषीय तुलनात्मक अध्ययन' प्रस्तुत किया।

मूलरूप से तुलनात्मक साहित्य को ऐतिहासिक या कालक्रमिक नहीं मानकर विद्वान् इसे एक कालिक या कलात्मक दृष्टि से एक स्वतंत्र संपूर्ण प्रणाली मानते हैं, जिसके आलोक में आलोचक तुलनात्मक साहित्य को जाति, परिवेश व काल के स्थान पर एक संस्था के रूप में प्रकाशित कर पाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि तुलनात्मक साहित्य साहित्य से अलग आयामों अर्थात् साहित्य के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक पक्षों को नकारता है। बल्कि तुलनात्मक साहित्य के लिए शुद्ध आयामों का ही महत्त्व अधिक है। इन्द्रनाथ चौधुरी भी मानते हैं, "तुलनात्मक साहित्य के लिए मध्यम मार्ग को अपनाना ही ज्यादा उपादेय है।"

सन्दर्भ–

1. आक्सफोर्ड डिक्सनरी, पृ. 223.
2. बसंत बापट : तौलनिक साहित्याभ्यास.
3. डॉ. विजयपाल सिंह : हिन्दी अनुसंधान, पृ. 260.
4. वही, पृ. 260.
5. सं. डॉ. राजूरकर एवं डॉ. राजकमल बोरा : तुलनात्मक अध्ययन स्वरूप और समस्याएँ, पृ. 34.
6. वही, पृ. 35.
7. बच्चन सिंह : आधुनिक हिंदी आलोचना के बीज शब्द, पृ. 17.
8. नरेश गुहा : तुलनात्मक साहित्य समाकलन, पृ. 30.
9. इन्द्रनाथ चौधुरी : तुलनात्मक साहित्य की भूमिका, पृ. 9.
10. सं. डॉ. राजूरकर एवं डॉ. राजकमल बोरा : तुलनात्मक अध्ययन स्वरूप और समस्याएँ, पृ. 36.
11. नरेश गुहा : तुलनात्मक साहित्य समाकलन, पृ. 30.
12. इन्द्रनाथ चौधुरी : तुलनात्मक साहित्य की भूमिका, पृ. 8.
13. सं. डॉ. राजूरकर एवं डॉ. राजकमल बोरा : तुलनात्मक अध्ययन स्वरूप और समस्याएँ, पृ. 37.
14. सं. डॉ. राजूरकर एवं डॉ. राजकमल बोरा : तुलनात्मक अध्ययन स्वरूप और समस्याएँ, पृ. 38.
15. इन्द्रनाथ चौधुरी : तुलनात्मक साहित्य की भूमिका, पृ. 12.
16. वही, पृ. 12.
17. वही, पृ. 15.

*शोध छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

के0जी0 सुब्रमन्यन.....

लक्ष्मण प्रसाद*

बहुमुखी प्रतिभा के धनी कलाकार के0जी0 सुब्रमन्यन चित्रकार, म्यूरल कलाकार, डिजाइनर, छापाचित्र कलाकार, खिलौना–शिल्पी, बुनकर होने के अलावा कला शिक्षाविद् तथा लेखक भी हैं। भारतीय कला में विभिन्न माध्यमों में सक्षम होने के कारण उन्होंने चित्रों में कई तरह के प्रयोग किए हैं। भारतीय कला पर लिखने के साथ ही साथ बच्चों के लिए कुछ हर्षजनक इसमे लिखा है और उन्हें चित्रित भी किया है।

के0जी0 सुब्रमन्यन का जन्म 1924 में केरल राज्य के उत्तर मालावार स्थित कुत्थुपराम्बा नामक स्थान पर हुआ। उनका बचपन केरल के विभिन्न भागों में बीता। घर में ही एक शिक्षक ने उन्हें दस वर्ष की उम्र तक पढ़ाया। इसी उम्र में वे चित्रकला और रेखांकन आदि का अभ्यास करने लगे। उन दिनों बचपन में वे काष्ठमूर्ति शिल्पों और केरल के मंदिरों की अनुकृति करते थे। के0जी0 सुब्रमन्यन को कला [illegible] अवनींबाबू व नन्दलाल बोस के चित्र देखे और भारतीय कला [illegible] अवगत हुए। इन्हीं दिनों 1937 में उनकी मुलाकात दो विदेशी कलाकारों से हुई जो माहे (कुत्थुपराम्बा) में जल रंगों में काम करते थे। इस बीच अंग्रेजी और मलयालम की कविताएँ खोज–खोज कर पढ़ीं [illegible] स्थिति की भी गहराई से जानने की इच्छा तीव्र हुई।

1939 में इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और आगे की पढ़ाई के लिए वे बैंगलौर गये। 1941 में वे बी0ए0 करने के लिए उन्होंने प्रेसीडेन्सी कॉलेज (मद्रास) में दाखिला लिया और विषय के रूप में अर्थशास्त्र (ऑनर्स) रखा। उन्होंने आधुनिक साहित्य का भरपूर अध्ययन किया और जब तब चित्र बनाना भी जारी रखा। उनके मित्र ने उन्हीं दिनों इनके द्वारा निर्मित कुछ चित्र को स्थानीय कला महाविद्यालय के प्राचार्य डी0पी0 राय चौधुरी को दिखाया। राय चौधुरी को इनके चित्र बहुत ही आकर्षित किया। राय चौधुरी ने के0जी0 सुब्रमन्यन को फाइन आर्ट्स में शिक्षा लेने के लिए प्रेरित किया।

कला उनके जीवन में प्रभावी भूमिका में तब आई जब उनके भाई के आग्रह पर नन्दलाल बोस ने उन्हें शांतिनिकेतन आने को कहा। इस प्रकार के0जी0 सुब्रमन्यन का यहाँ कला भवन में एक छात्र के रूप में प्रवेश हुआ। नन्दलाल का गहरा सानिध्य उन्हें मिला और विनोद विहारी मुखर्जी एवं रामकिंकर जैसे कलाकारों के व्यक्तिगत सम्पर्क में भी वे आये। यहीं से उनका कलाकार जीवन यात्रा आरम्भ हुआ। शांति निकेतन के हिन्दी भवन में विनोद बिहारी द्वारा बनाये जा रहे भित्तिचित्र में सहयोग दिया। 1948 में शरणार्थियों को खिलौना आदि बनाने का प्रशिक्षण दिया। 1950 में उनकी शादी "सुशीला जसरा" से हुई जो कलाकार के साथ–साथ समाज सेविका भी थीं। 1951 में वे एम0एस0 विश्वविद्यालय (बड़ौदा) के ललित कला संकाय में अध्यापक के तौर पर आये जहाँ पर उनकी मुलाकात शंकु चौधुरी और एन0एस0 बेन्द्रे से हुई। ये लोग पहले से ही वहाँ थे। 1953 में अमेरिका में एक प्रदर्शनी का आयोजन हुआ। जिसमें के0जी0 सुब्रमन्यन शामिल हुए और बड़े ही दुर्भाग्य की बात यह थी कि इसी वर्ष इनके बड़े भ्राता और माँ का देहान्त हो गया था।

के0जी0 सुब्रमन्यन एक ओर पश्चिम के आधुनिक कलाकारों ब्राक और मातिस से प्रभावित थे तो दूसरी ओर लोक–कलाकारों व शिल्पियों से कला ज्ञान प्राप्त करने के लिए उतने ही उत्सुक थे। के0जी0 सुब्रमन्यन मातिस के अधिक निकट थे। सुब्रमन्यन को एक खास तरह का स्कॉलर कलाकार भी कहा जा सकता है। एक लेखक के रूप में भी उनके अन्दर है। उनका लेखन दरअसल कला समीक्षकों और कला इतिहासकारों से भी अधिक गंभीर और महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

सुब्रमन्यन का मानना है कि एक कलाकार कला समीक्षक या इतिहासकार से भिन्न होता है। उनका कहना है कि अपने रचनाकर्म में मैं बहुत सी चीजों को बुनियादी मानता हूँ– भावनाएँ, प्रेरणा, हृदय का भीतरी लैण्डस्केप, पीड़ा, उत्साह आदि। इन चीजों के बारे में बात करते हुए मैं सहज नहीं महसूस करता। जब हम उनका विश्लेषण करने लगते हैं तो वे चीजें छोटी होने लगती हैं। कोई चीज पानी के भीतर ह्वेल मछली की तरह ताकतवर होती है पर जब उसे हम बाहर निकालते हैं तो वह बस एक बेचारी मछली दीखने लगती है।

सुब्रमन्यन कहते हैं कि जो कलाकृति आपकी दृष्टि को एक प्रकार की सूक्ष्मता प्रदान करती है और आपकी संवेदनशीलता को प्रखर बनाती है जो कला प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक यथार्थ [illegible] की बात करते हैं तो उनके ध्यान में वह [illegible] आपकी दृष्टि को एक प्रकार की सूक्ष्मता प्रदान नहीं करती, आपकी संवेदनशीलता को प्रखर नहीं बनाती, जो कला प्रतीकों के माध्यम से अलौकिक यथार्थ का वर्णन नहीं करती, उसकी सृजनात्मकता संदेह से परे नहीं है। इनका कहना है कि कला आन्दोलन ऐसा हो जो [illegible] दृश्यभाषा को व्यापक भारतीय कला समुदाय में प्रतिष्ठित करे और जो रचा जाय उसमें मानवीय अनुभूतियों की गहराई हो। के0जी0 सुब्रमन्यन को हमेशा एक बात की चिन्ता सताती है कि ऐसा कोई प्रखर आंदोलन भारत में नहीं हो पाया जो दृश्यभाषा के स्तर पर भारतीय कला को उन्नत कर सके। इस प्रकार सुब्रमन्यन यही सोचते हैं कि प्रत्येक समकालीन भारतीय चित्रकारों के चित्रण में भारतीय कला की एक खुशबू रहे, जिससे विश्वपटल पर यही चित्र प्रदर्शनी लगी हो तो उस चित्र प्रदर्शनी में वह अपनी अलग छाप छोड़े और पहचाना जा सके।

सुब्रमन्यन किसी कला में शिल्प से ज्यादा विषय वस्तु को महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि में किसी भी कलाकृति को महत्व सबसे पहले अपने गंभीर विषय के कारण होता है। विषयकृति को एक अपेक्षित रूप में ढाल लेता है। विषयवस्तु कृति में ऐसा होना चाहिए कि दर्शक के अन्दर की संवेदना, सौन्दर्यबोध और करुणा को झकझोर दे।

कला साधना लगभग यथार्थवादी, दृष्टिकोण से प्रारम्भ कर सुब्रमन्यन ने 1960 के दशक से आकारिक सरलता को अपना लिया। इनके still life painting tSls Studio tables का चित्रण बहुत सहज तथा प्रभावी है। उत्तर धनवादी कलाकार ब्राक के Still life painting की याद दिलाती है और उसी के समान दिखती है। इस समय इन्होंने ज्यामितीय स्वरूप को महत्व दिया ताकि डिजाइन का तत्व विकृति न हो। 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में Studio scien, Windows and Interiers से प्रारम्भ किया। लेकिन जब 1966–67 में वह अमेरिका यात्रा से वापस आये तो उनके रचना में कुछ परिवर्तन आया और इस प्रकार उनके चित्रों में द्विफलक एवं बहुफलक आकार लेने लगे।

अपने काल्पनिक जगत को बनाने के लिए और उस प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए जो भीतरी तथा बाहरी दृश्य के रूप में था, इसके लिए एक ही आधार तल पर मानवाकृतियों को आगे–पीछे बनाया जो भारतीय लघुचित्रों से भिन्न है। यह शैली सुब्रमन्यन की एक

कुशल शैली है। संरचना को लेकर के०जी० सुब्रमण्यन की दृष्टि सदा अनुशासित रही है। उनकी रुचि मुख्यतः रूपाकार को सरल बनाने में है, जो एक्रेलिक शीट्स पर बनाये गए उनके बाद के चित्रों में देखी जा सकती है। अपने एक्रेलित चित्रों में इन्होंने मुख्यतः स्त्रियों की दुनिया का चित्रण किया है– ऐसी स्त्रियाँ जो सरल सौम्य और वास्तविक जीवन की तरह यथार्थ है। 1960 के दशक में उनके द्वारा अभिव्यंजनावादी शैली में निर्मित टेराकोटा कलाकृतियाँ भी स्मरणीय हैं। समकालीन भारतीय कला में के०जी० सुब्रमन्यन के बनाये म्यूरल, टेराकोटा, रिलीफ पेंटिंग (Realif painting), Glass painting, Acrylic sheet painting, Water colour on paper painting आदि असंख्य कार्य महत्वपूर्ण हैं।

70 के दशक के प्रारम्भ में इन्होंने टेराकोटा रिलीफ को अपनी अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम बना दिया था। इन कलाकृतियों में चेहरा, हाथ, उंगलियाँ आदि का बहुत प्रभावशाली ढंग से इस्तेमाल किया। मुद्राओं को एक नई चित्र भाषा दी गई है। इन टेराकोटा रिलीफ में 1971 में बनाये गये एक काम प्रसिद्ध है जिसमें बहादुरी के तमगों से लदे जनरलों के चेहरे हैं। नीचे एक तमगा उल्टे लटके मृत परिवार का भी है। एक और चित्र में शिकारी और उसकी ट्राफियाँ हैं।

समय–समय पर इन्होंने अपने अभिव्यक्ति के माध्यम से सामाजिक एवं राजनीतिक हिंसा का तीखा जवाब दिया।

लखनऊ के रवीन्द्रालय का म्यूरल समकालीन कला की बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। हिन्दी भवन (शांति निकेतन) के बाद इनकी दूसरी बड़ी म्यूरल (भित्ति चित्र) है। शांतिनिकेतन में जो Black White Mural इन्होंने बनाया है उसकी शैली लोक है।

1979 के बाद सुब्रमन्यन के चित्रण में एक नया परिवर्तन आता है जिसमें ग्लास पेंटिंग श्रृंखला का निर्माण किये जो एक बाजार कला भी लेकिन इसमें भी इन्होंने अपनी दुनिया चित्रित कर डाली। यह उनकी दुनिया बहुत ही रोमांटिक थी। भारत में कांच चित्रण (Glass painting) परम्परा समृद्ध परम्परा के रूप में मानी जाती है। जिसको इन्होंने समकालीन रूप दे दिया। आगे चलकर एक्रेलिक शीट पर रिवर्स पेंटिंग की तकनीक को कलाकार ने कई तरह की स्वकल्पनाओं और परिकथाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने का सहज साधन बना लिया। जिसमें सॉड युद्ध का प्रशिक्षण, स्त्री–पुरुष केले खाते आदि बनाये हैं। आज भी अपने बड़े कैनवासों के बीच इस तरह के चित्रों को के०जी० सुब्रमन्यन प्रदर्शित करना नहीं भूलते हैं। इन चित्रों में एक चाक्षुष आनन्द है। रंग–रूपाकारों के साथ कलाकार बराबर खेलता नजर आता है।

गीता कपूर कहती हैं– के०जी० सुब्रमन्यन के अमूर्तन चित्र के बारे में अमूर्त चित्र कुशल कला के नमूने हैं। अमूर्तन के०जी० सुब्रमन्यन के लिए बेगानी दुनिया है। जैसा कि हम बड़े कैनवस आदि पर इनके तूलिका संचालन आदि का प्रभाव देखते हैं, इतना ही प्रभाव इनके द्वारा निर्मित छोटे कैनवस के टुकड़े पर भी देखते हैं। इनके संयोजन में कल्पना प्रधान और कला–कौशल नियम कानून द्वितीय है। कल्पना और तकनीक का दर्शन इनके छोटे–छोटे चित्रों में अधिक देखने को मिलता है। के०जी० का व्यक्तित्व बड़ा ही सुन्दर है उनके अन्दर कोई आधुनिक कलाकार के लटके–झटके, पागलपन, पैशन, परेशानियाँ आदि का नजर नहीं आती है।

के०जी० सुब्रमन्यन ने हमेशा रचना सामग्री की चुनौती से बराबर एक नया रिश्ता बनाने की कोशिश की है। 2002 में "एक्रेलिक ऑन आइरन शीट" माध्यम में इन्होंने कमरे के भीतर बैठी आकृति को बहुत सी सुन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है।

प्रिन्ट मेकिंग के विभिन्न रूपों को भी उन्होंने बराबर एक नई चुनौती के रूप में देखा है। लीथोग्राफी हो या सिल्क स्क्रीन, प्रत्येक माध्यम का इन्होंने बखूबी आनन्द लिया है। इनके स्केच को देखने का एक अलग मजा है। पशुओं और प्रकृति को वह बराबर स्कैच करते रहते हैं। जिसमें बकरी प्रमुख है।

इन्होंने बच्चों के लिए भी पुस्तकों का निर्माण किया जिसमें खुद लिखे, इलेस्ट्रेशन आदि किये जो रचना कर्म का एक उल्लेखनीय पहलू है। स्वयं के०जी० इसे रवीन्द्रनाथ टैगोर की परम्परा के अन्त के रूप में देखते हैं।

टेक्सटाइल विधा में भी इन्होंने अपने अभिव्यक्ति को प्रस्तुत किया। 1959–1961 के बीच "अखिल भारतीय हथकरघा बोर्ड" में उपनिदेशक (डिजाइन) पद पर कार्य किये।

2007 में निर्मित इनके चित्र का आधार कागज है जो चटक भारतीय लघुचित्रों के रंगों का समावेश है। नारी के जीवन को दिखाया है। जिसमें नारी की तुलना भारतीय देवियों से की है और उनके सवारी, शेर, गदहा व बकरी आदि को भी दिखाया है। आकृतियों को आगे पीछे करके बनाया गया है। के०जी० सुब्रमन्यन के शीशे पर बने चित्र के बारे में गीता कपूर कहती हैं– मैं सन् 1969 से इनके द्वारा निर्मित चित्र जो शीशे पर बने है, इन चित्रों को तीन अवस्थाओं में प्रस्तुत करना चाहती हूँ। वे हैं हास्यपूर्ण, भड़कीले तथा स्पष्ट रूप से कामुक चित्र। वे आकार में छोटे हैं और पहली दृष्टि में महत्वहीन लगेंगे, लेकिन वे दो तरफा रूप से प्रभावित हैं। इससे यह अनुभव होता है कि यह उस कलाकार के चित्र हैं जिसकी कुशाग्रता और कौशल विशाल है (शिल्पगत प्रयोग तथा चित्रात्मक दक्षता की दृष्टि से)।

के०जी० सुब्रमन्यन एक उत्कृष्ट कला विचारक के नाते भारत और विश्व के अनेक मंचों पर आमंत्रित किये जाते रहे हैं। जहाँ उन्होंने तार्किक विचारों से सबको प्रभावित किया है। 'मूविंग फोकस', 'द लिविंग ट्रेडीशन, 'पर्सपेक्टिव ऑन द मॉडर्न इण्डियन आर्ट', और 'डू वी नीड ऐन आर्ट मूवमेन्ट', जैसी पुस्तकों में इन्होंने विश्वकला और भारतीय समकालीन कला के बुनियादी प्रश्नों से मुठभेड़ की कोशिश कर एक ऐसी सार्वभौमिक दृष्टि दी है जो कला जगत् के सामने एक आचार संहिता की तरह है। इन्होंने इसके अलावा रवीन्द्रनाथ टैगोर, नन्दलाल बोस, विनोद विहारी मुखर्जी, अमृता शेरगिल, अवनीन्द्र टैगोर व रामकिंकर आदि के कृतियों का मूल्यांकन किया। इनके द्वारा बच्चों के लिए चित्रित पुस्तक लिखी गई जो इस प्रकार है– Hen God first made the animals, He made them all likle, The butterfly and the Ckriket, 'The king and the little man', 'Cats night and day' vkSj 'Frog life in fun life' आदि।

अभी के०जी० सुब्रमन्यन में एक युवा चित्रकार जैसी उर्जा है जो इस समय बड़ौदा में ही अपना कार्यशाला स्थापित कर कार्य कर रहे हैं एक कलासाधक की तरह।

सन्दर्भ–

1. भारत की समकालीन कला – एक परिप्रेक्ष्य (प्राणनाथ मागो), अनुवादक– सौमित्र मोहन
2. बृहद आधुनिक कला कोश– विनोद भारद्वाज
3. K.G. Subramanyan Geeta Kapoor
4. Art and Visual Culture in India (1857-2007), Gayatri Sinha
5. Dictionary of Indian Art and Artist, Pratima Seth
6. कला दीर्घा– ज्योतिष जोशी, Vol. 3, No. 6, April 2003
7. कला त्रैमासिक, राज्य ललित कला अकादमी, अगस्त 1983

*असिस्टेन्ट प्रोफेसर
एस०ओ०पी०जी०ए०–दृश्यकला, इग्नू

Global Issues aAnd Gandhian Solutions

Mamta Yadav*

Our modern world is the age of crisis caused by violence, terrorism, ecological disbalance, tensions, wars, overpopulation and poverty. Mahatma Gandhi demonstrated the practical applicability of non-violence in all the spheres of the human life and its usefulness to the whole world. The technique of non-violence is a way of life to the humanity and helps to achieve permanent and enduring global peace.

Environmental Protection

Mahatma Gandhi was against blind urbanization and industrializations in India. The dynamics of heavy industrialization and technological development have far-reaching effects on the modern society. Without proper protection of the environment, the growth may result in an ultimate disaster. He wanted to keep the ecological balance of the village and the city.

Gandhi stated that the industrial civilization is all evil and a disease. It is in no way indispensable for the permanent welfare of the human race. Gandhi says, Machinery is like a snake hole which may contain from one to a hundred snakes. Where there is machinery there are large cities.... Honest physicians will tell you that where the means of artificial locomotion have increased the health of the people has suffered[1].

Gandhi was a naturalist. He believed in a human life in close relation to nature. This was evident in his Ashram at Ahmedabad. He made so many experiments in dieting, nature cure, living etc. It was his love of nature which prompted Gandhi to insist upon the maintenance of rural India[2].

Terrorism and the modern age

The two reasons for the prevalence of terrorism in the modern times are due to the leaders and agencies of force in the state who acquired the power in total disregard of the underlying values and norms of the law in force. The terrorists have been indoctrinated with a type of ideology supporting violence and terrorism. The national and international incidents of terrorism are on rapid increase.

In order to stop violence, terrorism and bloodshed, Gandhi aimed at a non-violent society and a non violent state. He advocated the doctrine of trusteeship to realise the ideal of economic equality for the emergence of an egalitarian society basing on non-stealing and non-possession to avoid exploitation. He states "I object to violence because, when it appears to do good, the good is only temporary, the evil it does is permanent."[3]

Nonviolence and world Peace

The issue of peace assumes greater significance than before in the modern times. The human life becomes meaningful and purposive and gains significance and relevance when the long cherished dream of world peace is realized. Peace demands sacrifices and the total human effort.

Gandhi thoroughly studied the concept of non-violence and found it to be the basic tenet of human existence. He conducted a series of experiments with non-violence and made it applicable to resolve the national and international problems.

The successful application of non-violence ushers in a new peaceful world order, involving a great deal of moral strength, and readiness to under go self - suffering on the part of the person who applies it. The success of the application of non-violence depends upon the conviction of the person which has to be gradual, with the attitude that one step is enough for me. The beginning will be small and the rest will follow, says Gandhi.[4]

Gandhi stated that non-violence is the means and truth is the end, He says that "ahimsā is not the goal. Truth is the goal. But we have no means of realising truth in human relationship except through the practice ahimsā"[5]. Gandhi was confident of the permanent peace. He says that "If the world is to have peace, non-violence is the means to that end and no other."[6] The non-violence has to be made as the governing principle of all the individuals of all the nations as their social conduct for the establishment of world peace.[7]

The problems of poverty and overpopulation

Like Vivekananda Gandhi was concerned with the poverty of the Indian people. He waged a relentless war throughout his life for the solution of this problem. He suggested craft-centred education and development of cottage industries and on the other hand minimization of human wants. He suggested Brahmacarya as a solution for the control of growing population in this country. His concept of marriage as a necessary evil, should also be considered in this light. If Gandhian ideal of Brahmacharya is pursued by every one, even by the married persons, the problem of population will be solved.

Lastly, Gandhi had a global perspective - a

world - view which has dimensions -sacrifice and coherence. His world-view has become an experienced feeling of non-violence and truth which universalises his ethics and he ethicises world-view "To Gandhi, world-view is at once an intellectual frame work, an emotional attitude and a social reality."[8]

References

1. M.K Gandhi, Hind Swaraj, P.96, Navajivan Publishing house, Ahmedabad, 1962.
2. Dr. G. Ranjit sharma, An Introduction to Gandhian thought, Pg. 124.
3. Young India, 21.5, 1925, P.178.
4. Harijan, 28.1.1939, P.442.
5. Harijan, 23.6.1946, P. 199.
6. M.K. Gandhi, Communal Unity, P.670, Navajivan Publishing house, Ahmedabad, 1949.
7. Gandhi Marg, April 1982, P.22.
8. Y.G. Krishna Murty, Neo Gandhism, P.53, Nalanda Publ. Bombay, 1954.

*UGC SRF
Deptt. of Philosophy and Religion
B.H.U.

पंजीयन संख्या–1933/2010–10

परमिता

के निरन्तर प्रकाश पर शुभकामनाएँ...।

निःशक्त–जनों की शिक्षा, संघर्ष, कल्याण एवं सृजनशीलता का प्रतीक

लार्ड बुद्धा फाउण्डेशन

।। छाँहीं–सारनाथ, वाराणसी ।।

द्वारा प्रायोजित

e-mail : buddhafoundation1@gmail.com

दूरभाष – 09793715280

विकलांग व्यक्ति परामर्श एवं सेवा के लिए सादर आमन्त्रित।

भवदीय

दिलीप दीक्षित

Elementary Education and National Development : Needs for Strategic Approach.

Dr. Sandeep Tiwari*

Education is key to all human development. It is also panacea to all human problems. Education Commission (1966) not only received education as the basis of national development but also recommended it as a weapon for social and national integration.

India stands at the threshold of the twenty-first century. She will find it difficult to solve the problem if she does not visualize them in advance. A time has, therefore, arrived when the possibilities of the future should be anticipated and attempts should be made to gear the educational system for making it an effective instrument of national development because its potentiality in this direction is universally recognised.

Universalization of elementary education has been accepted as a national goal in India since Independence. The founding fathers of our constitution recognised elementary education as crucial input for nation building. The directive principles of state policy envisage that the state shall endeavour to provide free and compulsory education for children upto 14 years of age within a period of 10 years. The national Policy on Education 1986 (as envisaged in 1992) resolves to provide free and compulsory education of satisfactory quality to all children up to 14 years of age before the commencement of the twenty first century.

The first National Policy on Education (1968) recommended free and compulsory education and equalization of educational opportunities especially for girls and children belonging to SCs and STs. The National Policy on Education (1986) and its programme of Action, (1992) was enunciated on the basis of a detailed review of the country's educational performance. The policy resolves to achieve universalisation of elementary education by 2000A.D.

The country has undoubtedly been successful in evolving a national structure for elementary education in the last fifty years. There has been substantial increase in access to elementary education. Effective and qualitative elementary education is key to all round development of any society. Education contributes to economic and social development of a nation Many studies have shown that effective education contributes to economic development through increased national income and individual earnings (T.W. Schultz).

Returns to education are higher in rural than in Urban areas, it is higher for primary and middle schooling than for higher levels of education. (Tilak, 1987). A study of 14 most populous states in India for the period of 1971-81, suggests that one additional year of education of the workforce can effect 13 percent increase in economic output and the increased educational level can contribute about 27 percent increase in economic output (Loh, Jacqueline 1995). Apart from the direct monetary returns, schooling also produces externalities which benefit society at large. (foster and Rosenzweig, 1996).

Primary education has a close link with the development of health; knowledge and skills rather than growth of income of the people. (Sen, 1990).

References

1. Shultz, T.W. 1981 : Investing in people ; The Economics of population Quality, university of California Press, Berkeley.
2. Sen, Amartya, 1990; Development as capability Expansion, in Keith Griffin and John Knight (ed.) Human Development and the International Development strategy for the 1990, Macmillan in association with united Nations; London.
3. Tilak, Jaudhyala, B.G. 1987; The Economics of Inequality, Sage, New Delhi.
4. Loh, jacqueline; 1995, Education of Economic Growth In India; An aggregate production function Approach, DPEP Bureau Ministry of Human Resource Development. Department of Education, New Delhi.
5. Foster, Andrew D, and mark R. Rosenweig 1995; Learning by Doing and Learning from others; Human capital and Technological change in Agriculture, Journal of political Economy, Vol. 103 (6), PP 1176-1209.

*Teacher, N.E. Railway Senior Secondary Gorakhpur

EVALUATION OF ENVIRONMENTAL EDUCATION TEXT BOOK OF GRADE III BY USING CONTENT ANALYSIS AS A TOOL

Shivendu Prakash

Abstract : Grade III textbook in environmental studies was evaluated with the objective of providing information for in service teacher training in use of existing textbooks and guidelines for preparation of new textbooks. The study investigated -- (a) Theme and sub themes of each chapter (b) chapter wise diagrammatic representation, (c) chapter wise exemplification (d) linguistic analysis (e) error Grammatical and Printing (f) chapter wise distribution of questions in practice exercise. A research design was adopted to include - (i) analysis of each textbook, (ii) teacher interview. Results of the study indicate that textbook needs immense improvement in all respect. Implications of results in terms of textbook preparation and methodological issues are discussed.

Keywords: Content Analysis, Primary level textbook, The State of Rajasthan

Introduction : In the national context today, the significance of an appropriate curriculum becomes even more critical in view of the efforts towards universal primary education wherein the diversity of students' needs will inevitably become still greater and so will the need to adapt educational approaches to match curriculum, instruction and learner.

In the Indian situation, at the primary stage the textbook continues to be the most essential and in majority of cases the only aid in the hands of the teacher and the learner through which the given curriculum is transacted. This situation consequently places a heavy responsibility on the quality of the textbook for ensuring effective teaching-learning interactions and outcomes. For any instructional material to be effective, it has to be necessarily planned keeping in view the requirements of the learners particularly with reference to their age, their educational and cultural background, their immediate environment as well as their proficiency in the language, which is the medium of instruction

Objectives and scope of the Study : The objectives for the study were "to content analyse the primary level textbook and guide the preparation of new textbooks so that to bring qualitative improvement in the textbook."

This study was limited to Grade III textbook in environmental studies in the Rajasthan state.

Research questions : The study has primarily addressed the following research questions that have emanated from the objectives:

1. To what extent the themes and sub themes suggested by NCERT for Grade III are used in developing textbook in environmental studies in Rajasthan.
2. To what extent suitable illustrations along with clearly developed diagrams are used in each chapter to develop better comprehension.
3. To what extent textbook is free from syntactical and printing error.
4. To what extent questions in practice exercises are uniformly distributed.

Review of Related Studies : Studies conducted in the last two decades have continued to delve discourse structure (Cooper, 1970; Moir, 1970; Alliende, 1987, 1990; Gourley, 1984). Gross and Sadowski (1985) gave a microcomputer programme called FogIndex but also, concluded that no estimate can replace commonsense and individual judgment. Gray & Leary, 1940; Strang, 1948; Kukemelk & Mikki, 1993 analysed content, format and organization.

Very few studies have been conducted in India as yet. A major study of direct relevance is that of Sharma (1993) which investigated the comprehensibility of language of class 3 textbooks of language, Science and Social Studies of Rajasthan. The study included a linguistic analysis of the textbooks as well as a collection of spoken and written language of children of grade 3 and made a comparative analysis. The study did highlight some inconsistencies between the language used in the textbooks and the spontaneous language of children, particularly in terms of vocabulary and sentence length. It also brought forth differences between urban-rural groups and reiterated the need to cater to both.

The dearth of studies specifically in the area of content analysis of textbooks in Rajasthan, however, only reinforces the need and priority for such studies, since these could contribute significantly to the improvement of quality of instructional material being produced for the primary grades.

Methodology : A two-prong research design was adopted to include-

- Content Analysis of the textbook.
- A self made questionnaire was used to seek the

S.N.	Illustrations	Diagrams	Syntactical and Printing Error	Questions Used in practice exercises
1.	Number of illustrations used	Number of diagrams used in each chapter.	Error in terms of spellings	Number of Questions
2.	Kind of illustrations used i.e. whether it is experimental bases, activity based or descriptive in nature.	Clarity of diagrams	Error in terms of word	Type of questions i.e. knowledge (K), understanding (U), Application (A) and skill (S) type.
3.		Colourfulness of diagrams	Error in terms of sentences	
4.		Labeling of diagrams	Printing Error	
5.		Cause and effect relationship between diagrams	Printing Quality	
6.		Content Relatedness		
S.N.	**Illustrations**	**Diagrams**	**Syntactical and Printing Error**	**Questions Used in practice exercises**
1.	Number of illustrations used	Number of diagrams used in each chapter.	Error in terms of spellings	Number of Questions
2.	Kind of illustrations used i.e. whether it is experimental bases, activity based or descriptive in nature.	Clarity of diagrams	Error in terms of word	Type of questions i.e. knowledge (K), understanding (U), Application (A) and skill (S) type.
3.		Colourfulness of diagrams	Error in terms of sentences	
4.		Labeling of diagrams	Printing Error	
5.		Cause and effect relationship between diagrams	Printing Quality	
6.		Content Relatedness		

opinion of Teachers on the content, format and organization of the text book and the ways they use the text book in class room transaction.

Procedure :

Identification and Content Analysis of Textbooks: For the purpose of content analysis of textbooks for Grade III prescribed in Rajasthan state by RBSE in the areas of Environmental Studies were identified.

Content analysis of textbook was done on the basis illustrations and diagrams. For this purpose illustrations and diagrams given in the textbook were separately analysed respectively in terms of -

Questionnaire: A self-made questionnaire was constructed for teachers to elicit their opinions regarding the textbook with reference to the research questions. In all 150 teachers were interviewed across the States

Analysis: The data received were scored and tabulated in terms of:

(i) Content Analysis: (a) Total number of sub themes used in the process of development of textbook as suggested by NCERT. (b) Total number of illustrations (c) total number of diagrams (d) total number of syntactical and printing error (e) Total number of various behavioural domain wise

questions in practice exercises of different chapters.

(ii) Teacher's responses to get the profile of teachers on text book

Results and Discussion: Prior to discussion of the results obtained from the study it is imperative to emphasize that this study is essentially exploratory in nature and its results can at best be indicative only of possible trends, not definitive judgments or conclusions. The reason for this is that due to acute time and budgetary constraints, the study had to be necessarily limited in scope in terms of :

(a) Its treatment/ definition of concept analysis so as to include only the minimum possible aspects.

(b) Selection of sample which was essentially random in nature but in no way representative of the larger population.

Yet, the two-prong nature of the design of the study serves to validate the findings to some extent through supplementing/complementing the information from one source of data to another, which thus emerges as strength of the study.

The results of the study are discussed in terms of the two research questions specified earlier.

(a) Fig.1 apparently shows that out of total 25 suggested sub themes by NCERT for Grade III text book in environmental studies only 15 (60%) sub themes are used to develop chapters in text book, though there are total of 30 chapters in Grade III text book and all the sub themes could have been easily covered but it is not so because there are three such sub themes which are repeated twice otherwise the number of covered sub themes would have been 18.

A self-made teacher's feedback scale was used to collect the information regarding suggested themes and sub themes by NCERT but none of the teacher selected in the sample were aware of these.

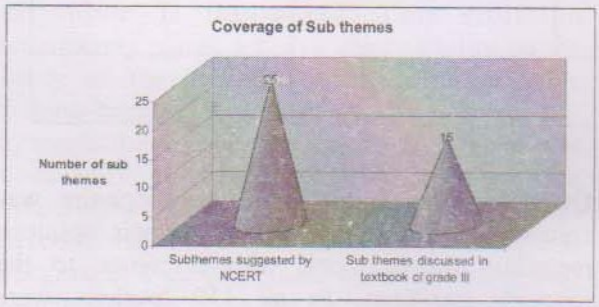

Figure 1

(a) It is clear from **fig.2** that clearly demarcated examples are used only in 6 chapters (V, VI, VII, IX, XV & XXIII) of textbook (percentage wise it is only 20%) out of the 30 chapters. There is no separate section any where in any chapter for these examples and mostly these are of descriptive nature. The illustration used is qualitatively not satisfactory as it lacks penetration and practicability. The numbers of examples used are very scanty and none of them is of activity based or experimental nature.

Data collected from self-made teacher's feedback scale reveals that 85% of teachers teaching the textbook are of view that it lacks sufficient number of suitable examples and those used are not appropriate and have least consonance with the content described in the textbook.

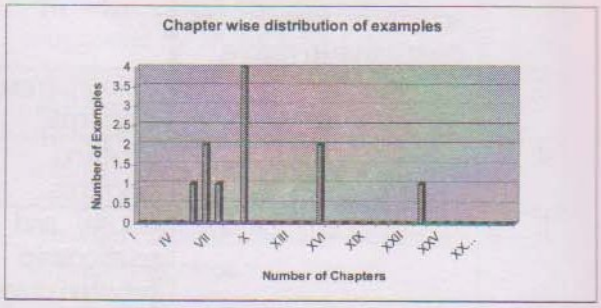

Figure 2

(a) From **Fig.3,** it is clear that there are only three chapters, which have no diagrams, but the diagrams used lack clarity, colouration, labeling and any sort of cause and effect relationship. There are total of 65 diagrams in all the 30 chapters but only 16 have substantial clarity, rest having dull and blur appearance, 22 diagrams are labeled but it is not prominently done while there are only 8 such diagrams which have some kind of cause and effect relationship. Overall, the quality of diagrams used is not satisfactory because of the absence of sincere objectivity. Throughout the textbook a important fact is apparently noticeable, is absence of coloured diagrams in any of the chapters that is contributing most in bringing down the quality of diagrams alongside the above drawn facts.

A self-made teacher's feedback scale was used to collect the information regarding diagrams and the above finding was confirmed by the responses of the teachers teaching the textbook. About 83.14% teachers are of the perception that the diagrams used in the textbook are shoddily developed and it should be immediately revised.

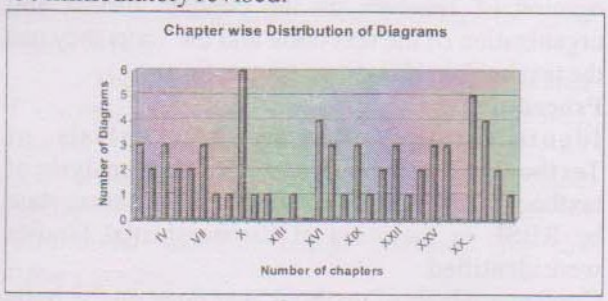

Figure 3

(a) There are only 11 out of 30 chapters are completely proofread while rest of 19 chapters

having either kind of error i.e. syntactical or printing errors or both. Printing error is more common than syntactical error as is evident from the graph **(Fig. 4)** and the percentage of occurrence of printing error 36.67% while that of syntactical error is 23.33%. Whatever is the kind of error but the place where it occurs is altering the meaning of sentences and developing erroneous perception among students regarding that particular word or sentence.

The finding was also supported by the teacher's response. About 81.83% teachers have perception that textbook is not properly proofread and it needs immediate revision.

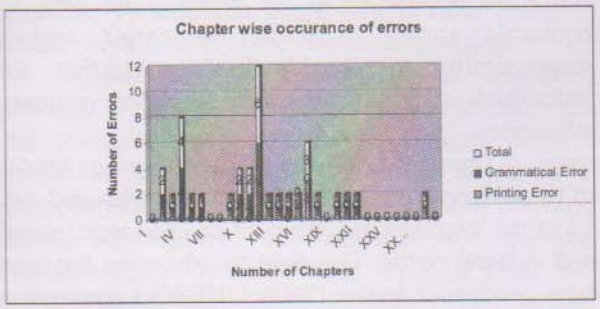

Figure 4

(e) It is obvious from **Fig.5** that practice exercises consist 235 questions in all the 30 chapters, which are, distributed among the four aspects of behavioural domain in particular knowledge (K), understanding (U), application (U), and skill (S). Out of 235 questions, 145 are from K aspect which constitutes 61.7% of total whereas just 69 questions are from U aspect which comprises of 29.36% of total and only nominal consideration is given to questions from A and S aspects i.e. mere 8 and 13 which is about 3.4% and 5.53% respectively of total.

Teachers teaching the textbook were unable to perceive the above fact because they were unaware of such kind of categorization. 77.79% teachers did not know such method of providing weightage to questions of practice exercise while only 22.21% teachers knew this method of assigning weightage.

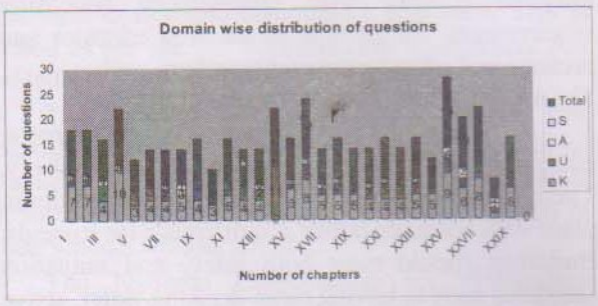

Figure 5

Conclusion:

At the heart of the debate over school curriculum is the production of knowledge. The control of knowledge production is significant because it affects students' beliefs and attitudes about society and environment. Because textbooks play such a crucial role in children's learning, multicultural education includes proposals for textbook changes to make the curriculum more representative of diverse views. Findings of the study demonstrate that the textbook has not reached the additive stage including key themes and issues. Every state government has enough autonomy to develop textbook but so much deviation from the suggestions of nodal body i.e. NCERT, is matter serious of concern as it got direction from honourable Supreme Court of India to develop the syllabus for the development of Environmental Education at school level, which further got approval of honourable Court in their Judgment of IA No 1 in Writ Petition (Civil) No. 860/1991 dated 13th July 2004.

References:

1. Carley, K. (1992). Coding choices for textual analysis: A comparison of content analysis and map analysis. Unpublished Working Paper.
2. Krippendorf, K. (1980). Content analysis: An introduction to its methodology Beverly Hills, CA: Sage Publications.
3. Parkes, J., & Harris, M. B. (2002). The purposes of a syllabus. College Teaching, 50(2), 55-61.
4. Zala, Lavji N. & Patel, Niraj R.(2006). Library portal: A gateway of information. In 4th International Convention CALIBER, February 2006, at Gulbarga University, India.

*School of Education;
Jaipur National University, Jaipur

Education as a Fundamental Right

Vishakha Shukla*

Education is the most potent mechanism for the advancement of human beings. It enlarges, enriches and improves the individual's image of the future. A man without education is no more than an animal.

Education emancipates the human beings and leads to liberation from ignorance. According to Pestalozzi, education is a constant process of development of innate powers of man which are natural, harmonious and progressive. It is said that in the Twenty First century a nation's ability to convert knowledge into wealth and social good through the process of innovation is going to determine its future accordingly 21st century is termed as century of knowledge and we are determined to transform India into a knowledge society. Education is the very foundation of good citizenship. Today it is principal instrument in awakening the child to cultural value, in preparing him for later professional training and in helping him to adjust normally to his environment. It is said the child is the future of nation.

Education narrowly refers to formal institutional instruction. The 1960 UNESCO convention against discrimination in education defines education in Art. 1(2) as "all types and levels of education access to education the standard and quality of education, and the conditions under which it is given. In a wider sense education may describe all activities by which a human group transmits to its descendents a body of knowledge and skills and a moral code which enable the group to subsist. In the sense education refers to the transmission to a subsequent generation of those skills needed to perform tasks of daily living and further passing on the social, cultural, spiritual and philosophical values of the particular community.

The wider meaning of education has been recognized in Art. 1(a) of UNESCO'S 1974 recommendation concerning education for international understanding, co-operation and peace and education relating to Human Rights and Fundamental freedoms. The article states that education implies "the entire process of social life by means of which individuals and social groups learn to develop consciously within and for the benefit of the national and international communities, the whole of their personal capabilities, attitudes, aptitudes and knowledge."

The European court of Human Rights has defined education in a narrow sense as "teaching or instruction in particular to the transmission of knowledge and to intellectual development ." and in a wider sense as " the whole process whereby in any society, adults endeavour to transmit their belief, culture and other values to the young".

The right to education is recognized as a human right and is understood to establish an entitlement to free and compulsory primary education for all children an obligation to develop secondary education accessible to all children as well as equitable access to higher education and a responsibility to provide basic education for individuals who have not completed primary education.

The right to education is enshrined in Art. 26 of the universal declaration of human rights and Art. 14 of the international covenant on economic, social and cultural rights. The right to education has also been reaffirmed in the 1960's UNESCO convention against discrimination in education, 1st Protocol of ECHR and the 1981 convention on the elimination of all form of discrimination against women.

Fulfilling the right to education : The fulfillment of the right to education can be assessed using the 4 As framework which asserts that for education to be a meaningful right it must be available, accessible, acceptable and adaptable. The 4As framework was developed by the former UN special rapporteur on the right to education but is not necessarily the standard used in every international human rights instrument and hence not a generic guide to how the right to education is treated under national law.

The 4As framework proposes that governments as the prime duty bearer has to respect, protect and fulfill the right to education by making education available, accessible, acceptable and adaptable. The framework also places duties on other stakeholders in the education process, the child which as the privileged subject of the right to education has the duty to comply with compulsory education requirements, the parents as the first educator and professional educators namely teachers.

The 4As have been further elaborated as follows

Availability- It is funded by government, education should be universal, free and compulsory. There should be proper infrastructure and facilities in place with adequate books and materials for students. Buildings should meet both safety and sanitation standards such as having clean drinking water, active recruitment, proper training and appropriate retention methods should ensure that enough qualified staff is available at each school.

Accessibility- all children should have equal access to school services regardless of gender, race, religion, ethnicity or socio-economic status. Efforts should be made to ensure the inclusion of marginalized groups including children of refugees, the homeless or those with disabilities. There should be no forms of segregation or denial of access to any students. This includes ensuring that proper laws are in places against any child labour or exploitation to prevent children from obtaining primary or secondary education. Schools must be within a reasonable distance for children within the community, otherwise transportation should be provided to students, particularly those that might live in rural areas, to ensure ways to schools are safe and convenient.

Acceptability- the quality of education provided should be free of discrimination, relevant and culturally appropriate for all students. Student should not be expected to conform to any specific religious or ideological views. Methods of teaching should be objective and unbiased and material available should reflect a wide array of ideas and beliefs. Health and safety should be emphasized within schools including the elimination of any forms of corporal punishment. Professionalism of staff and teachers should be maintained. Adaptability- Educational programs should be flexible and able to adjust according to societal changes and the needs of the community. Observance of religious or cultural holidays should be respected by schools in order to accommodate students along with providing adequate care to those students with disabilities.

It is an established fact that basic education improves the basic societal factors with regard to life expectancy, infant mortality, and nutritional status of children etc. studies have shown that universal basic education significantly contributes to economic growth. We cannot afford illiteracy from an economic perspective too, because return on investment in basic education is one of the highest.

Model rules under the right of children to free and compulsory education

- Every child between the ages of 6 to 14 years has the right to free and compulsory education. This is stated as per the 86th constitutional amendment Act added Art.21A
- The government schools shall provide free education to all the children and the schools will be managed by school management committees. Private schools shall admit at least 25% of the children in their schools without any fee.
- The National Commission for elementary education shall be constituted to monitor all aspects of elementary education including quality.

Main Features of Right to Education 2009 Act

- Free and Compulsory education to all children of India in 6 to 14 age group.
- No child shall be held back, expelled or required pass a board examination until completion of elementary education.
- A child above six year of age has not been admitted in any school or though admitted could not complete his or her elementary education then he or she shall be admitted in a class appropriate to his or her age, provided that where a child is directly admitted in a class appropriate to his age then he or she shall in order to be at par with others have a right to receive special training in such a manner and within such time limits as may be prescribed provided further that a child so admitted to elementary education shall be entitled to free education till completion of elementary education even after 14 years.
- Proof of age for admission. For the purposes of admission to elementary education the age of a child shall be determined on the basis of birth certificate issued in accordance with the provisions of the births, deaths and marriages. Registration Act 1856 or on basis of such other documents as may be prescribed no child shall be denied admission in a school for lack of age proof.
- A child who completes elementary education shall be awarded a certificate.
- Recommends for a fixed student teacher ratio.
- It will apply to all of India except J and K.
- Provides for 25% reservation for economically disadvantaged communities in admission to class one in all private schools.
- Mandates improvement in quality of education
- Financial burden will be shared between state and central government.
- School teacher will need adequate professional degree within 5 years or else will lose job.
- School infrastructure to be improved in 3 years else recognition cancelled.

References

1. Article 26, Universal Declaration of Human Rights.
2. Article 14, International covenant on Economic, Social and Cultural Rights.
3. D.D. Basu, Introduction to the Constitution of India,(2004), Wadhwa and Company Law Publishers, New Delhi.
4. J.C. Aggrawal, Theory and Principles of Education,(2004), Vikas Publishing House Pvt. Ltd.
5. N.R. Swaroop Saxena, Philosophical and Sociological Foundations of Education,(2004), Surya Publications.
6. R.S. Pandey, Teacher in Emerging Indian Society,(2011), Agrawal Publications.

*Assistant Professor,
sampurnanand Sanskrit university, Varanasi

Conservation of Environment in the light of Buddhism

Poonam Mishra

Everything which is external to us which is surrounding us and which has effect on us is a part of environment. In the words of Woodworth, "Environment covers all the outside factors that have acted on the individual since he began life."

Environment and life are Co-terminus, its influence begins as soon as the human child is conceived, It influence stops with death. As a result of various human activities many harmful substances are being introduced to the environment that are potentially harmful and interfere with man and various other living species of their environment.

Increase in population has brought about destruction of vast area of forest which directly affects the life of other living creature of who shares this planet with us. Thus man is the only creature who has destroyed the natural eco- system. But this is also true that he has also understood the importance of its conservation which means judicious use of everything which is the gifts of nature and without which life on earth would be impossible.

Buddhism as a religion has played a very vital role in awakening mankind about the importance of nature and has made various rules for its followers to Co-exist with nature.

Buddhism took root in the soil of humanity more than 2500 years ago[1]. All Buddhist literature records that the Buddha was born in the forest, in a grove of soil, lovely straight backed trees with large leaves. According to legend, as soon as he was bourn he could walk and in the wake of his first seven steps lotuses sprang up. Meditation as youth was in the shade of the "Jambo". one of the Myrtle of which there are around 650 species.

The Buddha's further study was in the company of the Banyan and enlightment and Buddhahood were achieved under the spreading branches of a tree recognized for its speical symbolic place in human faith which is known as the Bo, Boddhi or Peepul, this tree is sacred in both Buddhism and Hinduism. because of the important symbolic value they have in the life of Buddha they are respected and no devotee follower would deliberately harm them.

"Ahimsa Parmo Dharma" is the core of Buddhist teaching and massage Ahimsa or non violence not only towards human being but all other living creatures sharing our planet with us.'For those who take refuge in the Doctrine. one should abandon harmful to the living being should not be done even in ones dreams preserve with strong efforts to protect one self from such acts.

No doing harm is a stage reaching to higher Buddhist attitude towards all living things, loving kindness, compassion. On the attitude of loving Kindness- The Buddha has said, " Making all the time, a rich and extensive offering with all that can be found in the billions of words to the supreme noble being this merit cannot match one moment of loving kindness."

Another well known and much loved teaching which exemplifies the central core of compassion in Budhism is: "Thus, as a mother with her own life gurads. The life of her own child, let all embracing thoughts for all that live be ----------."

Buddhist teaching about human kind's need and responsibilities concerning animals and plants, forests and water resources, indeed the whole natural environment, are being complied by the Buddhist perception. Buddhism focuses on compassion, the forest-dwellings and mediation in natural surroundings important to many in the Sangha. The order of Monks and the rich symbolism associated with many species of animals and plants.

Monks, for example are forbidden to cut down trees, and know well the story of a Monk, long ago, who cut a tree's main branch. The sprit of the tree complained to Buddha that by doing so, the monk has cut of his child's arm.

Another teaching relates that travellers after having rested in the shade of a large banyan. On leaving began to cut down the tree. Their action were condemned. The tree had given them shade, much like a friend and to harm a friend's indeed an act of evil.

Anguttar Nikaya provides an episode: "Long ago, Brahman Dhamika Rajahkoranya, has a king banyan called stead fast and the shade of its wides spread branches was cool and lovely.

Its shelter broadened to twelve league, none guarded its fruit and none hurt another for its fruit.

Now then came a man who ate his fill of fruit, broke down a branch and went his way.

Now them came a man who are his fill of fruit, broke down a branch a branch and went his way.

Thought the spirit dwelling in that tree: how amazing, how astonishing it is, that a man should be

so evil as to break off a branch of the tree, after eating his fill suppose the tree were to bear no more fruit and the tree---no bore more fruit."

Such teaching remind Buddhist monks and lay people alike of the importance of showing respect for trees which provide food, shade and protection not only for people but for all forest dweller.

Centuries before contamination of the earth's water would be wide spread threat to health and life that it is today The Buddha sit down rules forbidding pollution of water resources Even detail description of how a toilet should be built was provided especially to protect a healthy environment.

The Jataka the richly narrated birth stories of Buddhism have inspired some of the worls's most beautiful art and are abundant with poetic appreciation of the beauty of naturte. Here we find an area of earths called "Garden of Delight" Where grass is ever green in forest grow all trees whose fruit is good to eat, the stream are sweet and clean region overrun and beautified with all manner of trees and flowering shrubs and creepers resounding with the cries of swan, ducks and geese.

If such scenes seem other worldly it is because through ignorance, greed and lack of respect for the earth, world's growing human population has already transformed many of the earth's garden of delight into poisoned fields, sterile incapable of sustaining nature's rich diversity.

A large portion of earth has already been destroyed and destruction is actually increasing is unsupportable for Buddhist or people of any other persuasion or brief who seek a knowledge and wisdom and who seek a sense of responsibility for the condition of life on this planet now and for future generation.

By sharing the teaching of Buddhism with one and all we look forward to a world of acceptance of an environ mental ethic that will replace ignorance with knowledge, greed with generosity and lack of respect for the Earth with kindness for all life. Thus Buddhism can proved to be an active element in proper conservation of environment.

At last I would like to conclude with the statement given by his holiness of Dalai Lama.

"Life must be characterized by a sense of universal responsibility not only nation to nation and human to human but also human to other forms of life."

REFERENCES:-

1. Dighanikaya Pali Vol-1 Mahapadana Sutta Page No.10 Swami Dwarika Das Shastri.
2. Banwari Lal suman & Manju Suman, Agriculture, Forest-Tree, Environmet and Bodh Dharm
3. Chatsumarn Kabilsingh Thammasat University, Bangkok, "How Buddhism can help protect nature."
4. Chatsamarn kabilsingh Thammasat University Bangkok How Buddhasim can help project nature.
5. Donald & Swearer, Buddhism & Ecology: Challenge and Promise.
6. Swami Dwarikadas Shastri, Anguttar Nikaya Pali Vol. III. Pt. 6, p 103.
7. Donald & Swearer, & Ecology: Challenge and Promise.
8. Martime Batchelor & Kerry Brown, Buddhism & Ecology, London Cassel, 1992; lily de Siliva, "The Hills Where in My Soul Delight." Nancy Nash - "The Buddhist Perception of Nature Project", Buddhist Publication Society, 1987.

*Research Scholar, Department of History
M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.

"Feminism in the Novels of Shobha De."

Madhav Prasad Tripathi*

Feminism originates in the perception that there is some thing wrong with society treatment of women it tries to analyse the reasons for and dimensions of women's opression and obtains women's freedom. According to Oxford English Dictionary, the term "Feminism was first used in the later part of the 19th century, and it was defined as having the "qualities of females" the meaning of the term has been gradually changed, and now it means a "theory of the political, economic and social qualities of the sexes" In the introduction to the Remembered Gate. Origins of American Feminism Barbara Berg defines feminism as a "Broad movement embracing numerous phases of women's emancipation" she clears further.

It is the freedom to decide her own destiny, freedom from sex determined role, freedom from society's oppressive restrictions, freedom to express her thoughts fully and to convert them freely to actions. Feminism demands the acceptance of women's rights to individual conscience and judgment. It postulates the women's essential worth seems from common humanity and does not depend on the other relationships of her life. (1) usually, feminism is the ideology of women's freedom it is such a movement which is dedicated to search women's psyche status and problems. It also gives solution of problems and struggles for women's cause.

Women writers like Amrita Pritam, Kamala Das, Kamala Markandaya, Anita Desai, Nayantara Sahgal, Arundhati Roy and Shobha De have written on the Indian woman and her successes and failers in the society. An Indian critic has rightly said: " In India also, women authors have boldly come out with intimate details of their lives in their autobiographies. When women could talk so freely about themselves, it was natural that they would be more uninhibited in their writings, especially in their novels . (2)

De has great concern with her female characters and raises the women characters in her novels to be at per with male characters. They have same amount of freedom in all walks of life. As De says.

"I did write with a great deal of empathy towards women.
Without waving the feminist flag, I feel very Strong'ly
About the woman's situation. (3)

De has portrayed real picture of new woman who challenges the old-age practice of suppression of women in almost all spheres of life. Her female characters are enough powerful to say a big 'no' to every foul treatment meted out to them. They are well- equipped women-filthy rich, talented well-educated and ambitions De's women are strong enough to defy socially approved male hegemony to defy socially approved male hegemony on the basic issues of life. In de's novels all her female characters are strivers, assertive, contriver, and careless to moral and traditional values.

Indian woman over the ages has been an image of tolerance, sacrifice and purity However, this traditional out look about women has gone an important change De's women challenge tradition and- society and come to have a new identity. They belong to the world of rich and the power full. Such types of women in all De's works there is a clear picture of the new woman's unconventional out look on life. This new woman is out to grapple for equal power with man. As De observes.

Eventually, every relationship is a power either on overt or subliminal level---------- control over the situation has been a male prerogative over the centuries. Women's destinies have been determined largely in that content alone----------It is a time they were made aware of their own potential and power Shakti needs to be harnessed, directed and explored for the further once of over all human development. The very concept of sexes locked in eternal battle is negative and destructive. When one talks of shakti unleashed, one also remembers the two--- connotations of Shakti----------the destructive avattar is as potent as the creative one. It is in maintaining the state of equilibrium between these two opposing forces that leoads to creative and dynamic harmony ------Men will have to come to with woman power. (4)

De emphasizes the need for recognition of equivalence between male and female. In her novels male hierarchy is no longer chief motif. Men's prerogative to lead life as he pleases has lapsed. Women in her novels are powerful enough to decide what is best for them they do not accept any male interference in their affairs.

In her novels, De is all out to improve the conventional image of the Indian woman as a week, docile person living at the mercy of her partner. She reshapes her women characters as aggressive

blasters of the male ego and male hierarchy as De observes:

The women in my books are definitely not doormats:
They are not willing to be kicked around" (5)

De is of firm belief that women will be men's equal partner in all spheres of life. She visualizes that there will be a time when a woman's voice will be universally heard and heeded are heroines in the novels of shobha De Her women began coming out of their homes to experience and search the outside world. It was not an easy work, so many problems and difficulties had to be faced by them as they dared to make some space for themselves in the fiercely hostile male dominated Indian society.

The new women aspire for everything that gives them too much power and same footing with their male part ners. The women are all out to complete and overtake in almost every field which was previously man's territory. They are a new breed of women who live on their own terms. For example an image of new woman is thus presented by shobha De:

The scene was changing even in Bombay.
Women worked, women married, women
Divorced and women remained single divorced. (6)

These new women like to be treated as queens wherever they go. These women drive the trendiest cars; they go to expensive hotels to wine and dine; they even prefer shaping outside. The morals of these new women are questionable. They have no chastity and share beds with a chain of lovers. De has portrayed such types of female characters in her novels with great enthusiasm and reality.

Socialite evenings which is De's first novel expresses the kind of life led by these modern women. The female characters in this novel live a life of enjoyment, self indulgence and carefree.

Her women characters are non conformists. Anjali and koruna who have given up their traditional Indian middle class homes in quest of liberty. They are ambitious and daring. They marry for their convenience. They feel no scruple in fixing up extra marital relationships even inspite of leading married life.

Anjali marries Abe (Abas Tyabji) for he is rich and so could offer her all the luxury that she had dreampt of. Inspite of leading married life the develops her illicit relationship with other men. Like her husband she is equally reckless in her sexual behavior.

Karna also leads a wild, neckless life ever since she comes out of her strictly conventional middle class home. Much against the wishes of her father, she joins the shunned world of modeling. Like Anjali she also marries for money. In order to satisfy her sexual urges leaves her husband and maintains her sexual relation with her husband's friend Kkrish.

To these women marriage and family do not event. All is for convenience and fun. All they longs for is unlimited freedom. This is the image the new woman that De depicts in her novels.

In De's starry Nights, Aasha Rani is inducted in to the glittering Bombay film world by her ons mother Aasha Rani's mother (Amma) is a strange character who in her hunger for fame and wealth goes all out to sell her daughter's chastity She takes Aasha Rani from one film producer to another wearing indecent dresses to draw on their weakness and have then sign her daughter in their films looking only at her physical assets rather than her acting talents. Asha Rani undoubtedly succeeds and flourishes in the film industry using her body as bait for catching big producers and directors' attention. As she confesses to film financier- Kishenbhai:

"You financed and produced my first film kishenbhai,
But you extracted payment from my body." (7)

From a decent conservative conventional family any girl can not think of joining the tinsel world at the cost of her chastity. Asha Rani reaches to the position of a top heroine, and has no consideration for- moral values. She entangles herself in a number of extra- marital relations.

In sisters, Mikki and Alish a are two half sisters and legitimate heirs of the business tycoon Seth Hiralal. After the death of their father they try to make for themselves in the world of big business. At last Mikki gained success after facing several hardships. At one point she finds herself failure so she tabs decision to connect with another business tycoon Binny Malhotra. Binny ends up marrying Binny on the advice of Amy.

"The quickest way to shoot to the top is to tie up with Mathotra.
A disastrous marriage can always be put behind you darling.
These days divorce is not what it used to be. You are young and
Attractive. There will be a dozens of Malhotras later". (8)

Women of this hyper modern group care little for men. They think men only a means to fulfill their desire. Unlike the convention women who worship their men as their lords and masters, these women drink, attend late, night parties like men and deny to reman on their mercy.

Amrita in strange Obsession, is a young aspiring model, makes a journey to Mumbai to carve a career in modeling she is trapped into an illicit relationship with a lesbian Meenakshi Aiyenger after addressed as Minx. The lesbian relationship between Amrita and Minx shows the emerging reality of the new modern women who finds sexual gratification with persons of the same gender. These women freely select their partners whether they belong to the opposite sex or to the same sex.

In Snapshots, the female characters Aparna, suati, Reema, Surekha and Rashmi are all modern women. They lead lives on their own terms. To then divorce is as normal as marriage. Aparna leads the life of a divorcee on her own. She gave up her husband for she felt he did not live up to her standard. She makes illicit love- affair with Prem who works in her office. All these women do not care for conventional attitudes they very easily deny moral values. To them the life is meant to eat, drink and be merry.

Again, in Second Thoughts Maya who is young beautiful and ambitious Calcutta girl marries, a rich Mumbai business man and finds her relationship with her husband dull and mechanical. Ranjan is an obedient Mamma's boy who does every thing on the permission of his mother. Maya is bored beyond tolerance. Opposite to her hope of finding her Bombay life after marriage full of fun, she finds it full of boredom. Her dream of glamorous life remains unfulfilled. As Maya reveals her wish:

"I wanted the city to seep in to me slowly. I wanted to absorb it,
Digest it, make it a part of my system. I wanted desperately to
Become a Bombay wali, I wanted to belong." (9)

In order to fulfill her desires Mays jumps into extra marital affair. She is too much interested in her young neigh boar's son Nikhil, a spoilt brat who easily takes to Maya. Of eavrse Maya gets nothing from her crazy relationship with Nikhil except sexual fulfillment. In De's novels, the disadvantaged women break all those bonds and norms that delimit their freedom to fulfil their dreams or desires.

Women in De's novels desire sexual pleasure outside their marriage these women keep a dozen lovers. They feel they are same to men these women deny to bend to tradition, convention and oppression, these are the new women, a very striking group that is emerging stealthily in Indian aristocratic society which De presents in her novels with evthusiam and creative energy.

In conclusion it is note worthy that De has created the new woman who is ambitions, daring and fearless. She has joined the host of feminists in exposing women's situation and underlining the need for recognition of the new woman's power and superiority which had been suppressed in the past. It can be said that De has given a full throated, message in her novels that no man should underestimate women and that the new woman is here to stay and men beware of the new reality.

References -

1. Quoted by Kashinath Ran veer "Black feminist Consciousness" Print well Jaipur 1995 P.13.
2. Sharad Shrivastava, The new woman in Indian English fiction; A Study of Kamala Markandaya, Anita Desai, Namita Gokhale and shobha De (New Delhi, 1996), P.I.
3. Jay dipsinh Dodiya and R.K. Dhawan " The fiction of Shobha De; An Introduction" the fiction of shobha De, and ed. Jaydipsing Dodiya, P. 14
4. Shobha De, Shooting From the Hip: Selected writings (New Delhi; 1996) P.11
5. Ajay Singh "the trouble with Men" Asia week, n.d.
6. Shobha De, socialite evenings, in Shobha De Omnibus (New Delhi,1995) P.44
7. Shobha De, starry Nights, in Shobha De Omnibus P. 236.
8. Shobha De, Sisters, in Shobha De Omnibus P.468.
9. Shobha De second Thoughts (New Delhi 1996) P.27

*Research Student
English Deptt. U.P.R.T.O.U., Allahabad.